*

# झलकियाँ

हास्यरस सम्राट श्री जी० पी० श्रीवास्तव

के जीवन एवं साहित्य की

# झलकियाँ



लेखक

डा० रामचरण 'महेन्द्र'

(एम. ए., पी. एच. डी.)

प्रकाशक

**भारतीय प्रकाशन मण्डल**

वाराणसी-1

प्रकाशक : रघुनाथप्रसाद
भारतीय प्रकाशन मण्डल
नन्दनसाहू लेन, वाराणसी-१

प्रथम संस्करण
दिसम्बर १९५८
मूल्य सजिल्द ६)

मुद्रक : शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी-१

# दो शब्द



श्री जी० पी० श्रीवास्तव पिछली पीढ़ियों के व्यंग्य और हास्यरस के समर्थ लेखक रहे हैं। गत पचास वर्षों तक उनकी समर्थ लेखनी ने अनेक प्रकार के व्यंग्य-विनोदों से हिंदी भाषी जनता को आनन्दित किया है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे मित्र डा० रामचरण 'महेन्द्र' जी ने उनकी जीवनी, साहित्यिक कृतित्व और रचनाओं के सम्बन्ध में परिचयात्मक और आलोचनात्मक पुस्तक प्रस्तुत की है। इस पुस्तक से श्रीवास्तवजी का समग्र रूप हिंदी पाठकों के सामने आया है। महेन्द्रजी कुशल आलोचक हैं। उनकी हिंदी एकांकी संबधी पुस्तक पहले ही प्रकाशित हो चुकी है। अब उन्होंने हिंदी के उन प्राचीन सेवकों का अध्ययन आरंभ किया है जो दीर्घकाल से साहित्य को समृद्ध करते आ रहे हैं। यह खेद की बात है कि आजकल हम अपने पूर्वज-साहित्यकारों को भूलते जा रहे है। उन्हीं की अनवरत साधना से हिंदी भाषा आज पूर्ण समर्थ भाषा के रूप में प्रकट हुई है। सब समय साहित्य की कसौटी पर उनकी रचनाएं प्रथम श्रेणी की नहीं भी हो सकती हैं, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा को संवारने और भाव प्रकाशन क्षम बनाने में पूर्वज साहित्यकारों का बहुत ही महत्वपूर्ण योग

रहा है। उनकी तपस्या न होती तो हमारी भाषा इतना समर्थ रूप नहीं ग्रहण कर पाई होती। श्रीवास्तवजी ने तो भाषा के बहुत ही सुकुमार व्यंजना के क्षेत्र को अपनाया है। हास्य-व्यंग्य को इतनी सफलता से अभिव्यक्त करने वाली भाषा बहुत विरल होती है। श्रीवास्तव जी का दान केवल सुकुमार व्यंजना को प्रकट करने वाली भाषा ही नहीं है। उनकी कृतियों में सामाजिक कुरीतियों पर कसके चोट किया गया है। उनकी रचनाएं पाठकों के चित्त के कोमलीकरण का साधन बनी हैं जो सामाजिक मंगल को सहज ही ग्रहण करने की शक्ति देता है। महेन्द्रजी ने ऐसे साहित्यकार को अपने समग्र रूप में प्रत्यक्ष कराने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसके लिये वे सहृदयों की बधाई के पात्र हैं। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि वे अधिकाधिक शक्ति और स्वास्थ्य लाभ करें और इस प्रकार की रचनाओं से साहित्य का भांडार समृद्ध करते रहें।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

# विषय-सूची

*

## प्रथम खण्ड

### ओ. पी. श्रीवास्तव और हिन्दी संसार



## द्वितीय खण्ड

### ओ. पी. श्रीवास्तव और उनकी जीवन-गाथा

# तृतीय खण्ड

## ओ. पी. श्रीवास्तव और साहित्यिक कलायें

## चतुर्थ खण्ड

### ओ. पी. श्रीवास्तव और उनकी रचनायें

पृष्ठ संख्या





# श्रद्धांजलि

अभी तक हिन्दी-साहित्य का निष्पक्ष इतिहास और वैज्ञानिक समीक्षा सम्बन्धी पुस्तकों का प्रकाशन बहुत-कम—नहीं के बराबर—हुआ है। जहाँ इसके साहित्य के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव इसका प्रमुख कारण रहा है, वहाँ दूसरी ओर कतिपय लेखकों की संकुचित दृष्टि तथा अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति का अभाव भी कम नहीं रहा। यही कारण है कि साहित्य के विशिष्ट अंग और उसकी मान्यताओं को गति प्रदान करनेवाले तथा निश्चित मोड़ उपस्थित करनेवाले साहित्य-मनीषियों का उचित मूल्यांकन तथा उनकी रचनाओं के प्रति न्याय का निर्वाह न किया जा सका।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के पुनरुत्थान काल में हास्य और व्यंग की प्रतिष्ठा करने के लिए एक ऐसे आचार्य की आवश्यकता थी, जो कि हास्यरस को स्थायी-साहित्य प्रदान करने के हेतु इस पर शास्त्रीय-दृष्टि से विवेचन करके मौलिक साहित्य का सृजन करे। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने इस स्थान की पूर्ति करके, इसके प्रवर्तक के रूप में, साहित्य में प्रवेश किया। हिन्दी-भारती को अपने अनूठे हास, परिहास तथा व्यंग से परिपूरित कर हिन्दी-साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान की जिसका कि मार्ग अब तक अवरुद्ध था। श्री जी० पी० श्रीवास्तव के रूप में हिन्दी साहित्य ने वह सफल और महान व्यंग्यकार पाया जिसकी तुलना पाश्चात्य-साहित्य के बड़े से बड़े व्यंग्यकार से की जा सकती है। यह हिन्दी-साहित्य के गौरव की बात है कि इस दील-प्रताड़ित विषमताओं से पूर्ण वातावरण में भी एक ऐसा साहित्य-महारथी उत्पन्न हुआ जो दिल खोलकर, ठहाका मारकर, विषम-परिस्थितियों में सबको हँसा सका

और जिसने स्वयं भी अपने जीवन के संघर्षमय-परिस्थिति को चीरकर अट्टहास किया। ऐसे मुक्त-हास्य का प्रवर्तक निस्सन्देह एक महान पुरुष ही हो सकता है, जिसको दुनिया की संकीर्णताएँ, विषमताएं आदि बन्धन में न बाँध सकीं।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव का नाम हिन्दी-साहित्य में युग-प्रवर्तक के रूप में ही अमर न रहेगा वरन् वे प्रथम मौलिक आधुनिक कहानी-लेखक-त्रय के रूप में भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्मरण किये जायँगे। सन् १९१० ई० तक आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रयोगात्मक युग था। उस समय अनुवादों, रूपान्तरों आदि के सहारे हिन्दी-साहित्य अपना रूप निर्धारित करने का प्रयास कर रहा था। सन् १९११ ई० में काशी से 'इन्दु' प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष श्री जी० पी० श्रीवास्तव तथा श्री जयशंकर 'प्रसाद' की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'इन्दु' में और श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'भारतमित्र' में प्रकाशित हुई। आपकी इस रचना पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि इतनी परिष्कृत-भाषा और आधुनिक-शैली से युक्त आपकी रचना में जो प्रवाह और गति है, वह आपको केवल इक्कीस वर्ष की अवस्था में एक मँजा हुआ लेखक प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। निस्सन्देह इसके पहले ही आप 'मार मारकर हकीम', 'आँखों में धूल', 'हवाई डाक्टर' ( मौलियर के आधार पर ) तथा 'लम्बी दाढ़ी' की कुछ कहानियाँ ( मौलिक ) और 'प्राणनाथ' ( श्री रमेशचन्द्र दत्त के अँग्रेजी उपन्यास The Lake of Palms का अनुवाद ) लिख चुके थे।

जिन पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनायें प्रकाशित होती थीं, उनके प्रचार के साथ-साथ उनकी धूम मच जाती थी। आपही के निरन्तर धारावाहिक रचनाओं द्वारा चाँद तथा 'भविष्य' का ऐसा प्रचार बढ़ा कि देश के कोने कोने में उनकी लोकप्रियता का डंका पिट गया।

आप किसी भी वाद और पीढ़ी में न बँध सके और आज भी उतने ही लोकप्रिय और सजीव हैं जितने जीवन के प्रारम्भिक काल मे रहे। आपने सदैव सामयिक-साहित्य के सृजन का ही प्रयत्न किया है। यही कारण है कि दशकों पहले आपकी जो रचनाएँ हृदय में ताजगी और गुदगुदी उत्पन्न करती थीं, वे आज भी उसी मात्रा में हृदय को प्रफुल्लित करने में समर्थ हैं। साहित्य का कोई भी अंग आपसे अछूता न बचा। जिसको भी स्पर्श किया—उसमें चमत्कार उत्पन्न कर दिया।

हिन्दी में जीवन-चरित-साहित्य की बहुत ही कमी है और अभी बौसवेल ( Boswel ) ऐसे साहित्यिकों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जो कि डॉ० जानसन का जीवन-चरित्र लिखकर अमर हो गये। जीवन-चरित्र लिखने के लिए उन्हें न केवल कठिनाइयों और कष्टों का सामना करना पड़ा वरन् इसके लिए उनको कठोर साधना करनी पड़ी और तब जाकर अपने सूक्ष्म निरीक्षण और अध्ययन के फलस्वरूप वे एक अमर-साहित्य भेंट कर सके। हिन्दी-साहित्य में भी इसी भाँति का एक प्रयत्न डा० रामचरण महेन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी० ने किया है और वह बहुत ही परिश्रम तथा साधना से आपका जीवन-चरित्र तथा साहित्य लिखने में सफल हुए हैं। डा० महेन्द्र ने एक साधक की भांति विभिन्न दृष्टिकोणों से श्रीवास्तवजी की साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनके उपन्यास, नाटक, गल्प, प्रहसन, रेडियो-वार्ता, सिनेमा-कला आदि विषयक साहित्य पर एक नयी दृष्टि से खोजपूर्ण विस्तृत अध्ययन उपस्थित किया, जिसके सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री पाठकों को इस पुस्तक में उपलब्ध होगी।

विद्वद्वर महेन्द्रजी ने प्रस्तुत पुस्तक को चार खंडों में विभक्त करके प्रत्येक खंड के अन्तर्गत अत्यन्त पटुता के साथ विविध कला-रूपों और शैलियों का उदाहरण देते हुए श्रीवास्तवजी की साहित्यिक-साधना के

क्रमिक-विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है। खंडों के विभाजन, परिच्छेदों के वर्गीकरण सर्वथा अनूठे और सन्तुलित हैं। पुस्तक रोचकता में जहाँ एक ओर उपन्यास से बढ़कर आनन्द देनेवाली है, वहीं साहित्य के क्षेत्र में हर प्रकार की लेखन-कला सिखानेवाली अत्यन्त उपयोगी, अपूर्व और अनुपम है। यही नहीं पुस्तक साहित्य के विद्यार्थियों और लेखकों के लिये जहाँ समान रूप से परम उपयोगी है, वहीं हिन्दी-साहित्य का मार्ग-दर्शन करनेवाली अपने ढंग की अनोखी रचना और हिन्दी साहित्य में एक अमरकृति है।

हिन्दी-साहित्य के हास्यरस-सम्राट के विषय में तो कई पुस्तकें लिखने पर भी मुझे पूर्ण संतोष न होगा, यहाँ पर श्रद्धांजलि के रूप में कुछ उद्‌गार व्यक्त कर दिये हैं। अन्त में इस महाप्राण के दीर्घ-जीवन की कामना करते हुए भगवान से यही प्रार्थना है कि ऐसा साहित्य-मनीषी युग-युग तक हमारे बीच में रहकर आनेवाली पीढ़ी का मार्ग-दर्शन करता रहे।

देवगाँव,
आजमगढ़।

कृष्णराज गुप्त
( साहित्यरत्न )

प्रथम खण्ड

जी० पी० श्रीवास्तव

और

हिन्दी संसार

# पहला परिच्छेद

## युगान्तकारी साहित्य सेवा

"जब मैं रेवेन्यू-अफ़सर था—( १९४४–१९४६ ) सलामों और सिफारिशों के डर के मारे घर के बाहर बहुत कम निकलता था। जहाँ निकला कि सलामों की झड़ी बंध जाती थी फिर घन्टों यह बात और वह बात के बाद कहीं मतलब की बात आती थी।

एक दिन कचहरी से आकर कपड़े उतार कर फेंके सदा की भाँति खाली जांघिया और बनियाइन पहने आँगन में चित्त हो गया। देखा कि मेरा नन्हा सा भाञ्जा फूल-प्रफुल्ल कुमार-जो उस समय आठ बरस का था अपनी बाइसिकिल बाहर निकाल रहा है मगर निकाल नहीं पाता। मैं नंगे पैर उठा बाइसिकिल बाहर निकाली और फिर उसको उस पर चढ़ाना सिखाने लगा।

इतने में एक तांगा सड़क पर रुका। उस पर बैठे हुए सज्जन ने हाथ के इशारे से मुझे बुलाया और लगे पूछने - गंगाश्रम यही है? श्रीवास्तवजी घर पर हैं? कब मिल सकते हैं? कैसे मिल सकते हैं..........वगैरह वगैरह मैंने समझा कि यह लोग मुकदमेंवाले हैं या किसी मुकदमे में सिफारिश करने आये हैं, इसलिये मैं बराबर यही कहता रहा कि आप अपना मतलब तो बताइये।

इतने में दूसरे साहब ने जेब से एक चवन्नी निकालकर मुझे दी और कहा—"भाई हमलोग बड़ी दूर से उनके दर्शनों के लिए आये हैं। किसी तरह जल्दी से उनसे मुलाकात करा दो तो हमलोगों को यह ट्रेन मिल जायेगी।"

मैंने आकर बैठक खोली। उन लोगों को बैठाया। फिर भीतर आकर कपड़ा पहना। इतने में देखा कि भजन चाय की ट्रे श्रीमती जी के सामने रख रहा है। मैंने झपट कर ट्रे उठाली और उसे ले जाकर आये हुए लोगों के सामने रखा और हाथ जोड़कर कहा—"क्षमा कीजिये सूरत पर पहनने के लिए मेरे पास कोई पोशाक नहीं है। इसलिये आपकी चवन्नी वापस की जाती है।"

यह है इस पुस्तक के नायक हास्यरस सम्राट् श्री जी० पी० श्रीवास्तव की हास्य प्रिय रुचि का एक परिचय, जिसको उन्होंने स्वयं लखनऊ आकाशवाणी के १६५७ के चुटकुला-सम्मेलन में चुटकुला-स्वरूप प्रसारित करके हास्यरस की अपूर्व वर्षा की और जिनकी हास्य-प्रिय-रुचि अपने जीवन की ऐसी साधारण घटनाओं में भी अपनी छाप लगा देने से नहीं चूकी है। उनकी लेखनी ने हास्यरस तथा हिन्दी कहानी साहित्य में कैसा चमत्कार दिखाया है, दिखा रही है, या दिखा सकती है, इसका कुछ न कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है।

हमारे साहित्य के अनेक विद्वानों ने भी इस विलक्षण लेखनी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करके उसके ऐतिहासिक महत्त्व को माना है।

कुछ सम्मतियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

"हास्यरसाचार्य श्री जी० पी० श्रीवास्तव हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष महत्व रखते हैं। सफल अनुवादों द्वारा जहाँ उन्होंने मौलियर के प्रहसनों को हिन्दी भाषा में अपने सम्पूर्ण व्यंग के साथ प्रस्तुत किया, वहाँ हास्यरस प्रधान मौलिक नाटक, कहानियाँ और अभिनय योग्य छोटे बड़े प्रहसनों को जन्म देकर आनेवाले नये हिन्दी नाट्यकारों

को प्रेरणायें दीं। अभिव्यंजना का स्वरूप उनका सदा अपना ही रहा।"

—प्रोफेसर मोहनलाल वर्मा एम० ए० एल० बी०

"श्री जी० पी० श्रीवास्तव हिन्दी में जनसाधारण के लिये हास्य लिखने के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एक समय था जब उनकी पुस्तकों की हिन्दी पाठकों द्वारा बड़ी माँग थी। हास्य नाटकों (प्रहसनों) का तो श्रीवास्तवजी ने हिन्दी में खासा ढेर लगा दिया। मौलिक प्रहसन लिखने के अतिरिक्त श्रीवास्तवजी ने प्रसिद्ध फ्रान्सीसी हास्य लेखक 'मौलियर' के नाटकों का अनुवाद भी किया है। इनका हास्य घटना-प्रधान है। ऐसी स्थिति की यह कल्पना करते हैं कि हंसी तो बहुत आती है, पर उसका स्थाई भाव नहीं रहता।......इनकी भाषा चलती हुई हास्य के उपयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं।"

—प्रोफेसर जगन्नाथ नलिन एम० ए०
[ "हिन्दी नाट्यकार" पृष्ठ २५२ ]

"सामयिक सामग्री के आधार पर नाटकों का वास्तविक प्रारम्भ श्री जी० पी० श्रीवास्तव और राधेश्याम कथावाचक के नाटकों से होता है। जी० पी० श्रीवास्तव ने 'मौलियर' के नाटकों के हिन्दी अनुवाद और रूपान्तर से प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में लगभग दस नाटक रूपान्तरित किये जिनमें 'मार मारकर हकीम' और 'साहब बहादुर उर्फ चड्ढागुलखैरू' प्रसिद्ध हैं। 'साहब बहादुर उर्फ चड्ढागुलखैरू' एक मौलिक नाटक की तरह जान पड़ता है।...... नाटक आदि से अन्त तक हास्य से भरा है और हास्य भी सुरुचिपूर्ण और शुद्ध है......। अनुवाद और रूपान्तर के अतिरिक्त जी० पी० श्रीवास्तव ने मौलिक हास्यरसपूर्ण नाटक भी लिखे हैं जिनमें 'मरदानी औरत' 'नोक-झोंक' 'उलटफेर' और एकांकी प्रहसनों का संग्रह 'दुमदार-आदमी' कई बार

अभिनीत हो चुके हैं। कभी-कभी वे किसी विशेष प्रकार के व्यक्तियों के व्यंगपूर्ण चित्रण से भी हास्य की धारा बहाते हैं।......जी० पी० श्रीवास्तव ने अनेक प्रहसन और हास्य व्यंगमय नाटक लिखे जिनका जनता में खूब प्रचार हुआ। ..

—डा० श्री कृष्णलाल एम० ए० डी० फिल
[ आधुनिक हिन्दी का विकास पृष्ठ २६७ ]

"भारतेन्दु के बाद और भी नाटक लिखे गये परन्तु हास्यरस के ऊपर कलम नहीं चलाई गई।... हास्य की ओर आकर्षित करने का श्रेय जी० पी० श्रीवास्तव को है। इनके प्रहसनों की धूम मच गई। इनके हास्य ने लोगों को लोटपोट कर दिया। 'लम्बी-दाढ़ी' लिखकर उन्होंने अपनी हास्य कुशलता को कसौटी पर कसकर देखा। फिर उन्होंने प्रहसनों की ओर पग बढ़ाया.......वे फ्रान्स के जगतप्रसिद्ध हास्यरस लेखक 'मौलियर' का पल्ला पकड़कर चले। इनकी खासी धूम रही।...... "

—डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०
[ "साहित्य की झांकी" पृष्ट १२४—१५५ ]

"हिन्दी नाट्यक्षेत्र में जी० पी० श्रीवास्तव का ऐतिहासिक महत्व है। उन्होंने जिस समय लिखना प्रारम्भ किया था संस्कृत मिश्रित भाषा का बोलबाला था। गद्य क्षेत्र में हास्यरस की रचनाओं का सर्वथा अभाव था। स्टेज पर जो नाटक आते थे वह बहुत ही भद्दे होते थे। उन्होंने पहले पहल सर्वसाधारण बोलचाल की भाषा को साहित्यिक रूप दिया। स्टेज पर भी उनके नाटक खूब सफल हुए। कितने ही व्यक्तियों ने उनकी रचनायें पढ़ने के लिये हिन्दी सीखी।"

—श्री ज्ञानचन्द्र जैन
[ साहित्यसंदेश भाग १ पृष्ठ २३ ]

"हास्यरस की दिशा के आधुनिक प्रयत्नों में सर्वप्रथम श्री जी० पी० श्रीवास्तव का नाम हमारे सामने आता है। आपने आरम्भ से ही एक हास्यलेखक की भांति हिन्दी साहित्य में पदार्पण किया है और आज भी अपनी नवीन कृतियाँ हिन्दी को भेंट कर रहे हैं।...... इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीवास्तवजी ने हिन्दी में बहुत कार्य किया है और एक उपेक्षित अंग की पूर्ति में अपनी प्रतिभा अर्पित की है। "चन्द्रकान्ता" की भांति आपके ग्रन्थों ने भी हिन्दी का प्रचार किया है और बहुत से लोगों को हिन्दी पढ़ने को मजबूर किया है।"

—श्री भारतभूषण अग्रवाल एम० ए०

[ हिन्दी में हास्यरस, साहित्य-सन्देश नवम्बर १६३७ ]

"एकांकी नाटकों के उदय तथा विकास" के इतिहास के सम्बन्ध में अनुसन्धान करते हुए मुझे अपने निर्देशक का आदेश मिला कि नाट्यकार जी० पी० श्रीवास्तव के नाट्य साहित्य, विशेषतः उनके प्रहसनों की अच्छी जानकारी प्राप्त करूँ। इधर-उधर अनेक पुस्तकें पढ़कर तथा अनेक आलोचकों से उनके तथा उनके साहित्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु सब निष्फल सा रहा। न किसी साहित्य के इतिहास में विस्तार से इस लोकप्रिय नाटककार के सम्बन्ध में विवेचना प्राप्त हो सकी, न पूरे नाटकों प्रहसनों, अनुवादों एकांकियों की पूरी सूची ही, फिर इनके जीवन-दर्शन और साहित्य विकास के विषय में कौन कह सकता था। जिस हास्य-व्यंग्यकार ने पचास वर्ष साहित्य-साधना की और हिन्दी के भंडार को भरा उसके विषय में कोई पुस्तक न हो, यह बड़े दुख का विषय है। विवश होकर सोचा श्रीवास्तवजी इतिहास की वस्तु बन चुके मालूम होते हैं।

एक दिन हास्यरस सम्बन्धी पत्रों में श्रीवास्तवजी की एक पुस्तक -बौछार-पर सम्मति देखी। तो क्या श्रीवास्तवजी जीवित हैं? मन ने विश्वास न किया। जिस नाट्यकार की एक एक रचना की खोज के लिए मैं

काशी, प्रयाग, बनस्थली, जयपुर तथा अन्य स्थानों के पुस्तकालयों को छान बैठा था, एक-एक पृष्ठ ध्यान से देखा था, क्या वह जीवित है ? मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा।

मैं काशी नागरीप्रचारणी सभा का कृतज्ञ हूँ जिसकी कृपा से मुझे भारतेन्दु युग से आज तक की पुरानी पत्र-पत्रिकायें प्राप्त हुईं। 'गल्प-माला', 'इन्दु', 'चाँद', 'माधुरी', 'भविष्य' इत्यादि की पुरानी फाइलों में श्रीवास्तवजी की अनेक रचनाएँ प्राप्त हुईं। किन्तु उससे भी अधिक कृतज्ञ मैं 'करैला' सम्पादक का हूँ जिनके कारण मुझे श्रीवास्तवजी के जीवित होने की सूचना प्राप्त हुई। मनमयूर नृत्य कर उठा। वह सम्पूर्ण दिन एक मस्ती, एक अजीब खुमारी में बीता। मैंने बड़े उत्साह से श्रीवास्तवजी को पत्र लिखा। जिस दिन उनका उत्तर प्राप्त हुआ, मैंने अपने साहित्यिक मित्रों की दावत की थी।

पुराने पत्र पत्रिकाओं तथा स्वयं श्रीवास्तवजी की कृपा से उनके जो लेख, प्रहसन, भाषण, अनुवाद आदि प्राप्त हुए हैं और जो हो रहे हैं, उसके परिमाण को देखकर मुझे उनके साहित्य-प्रेम, श्रम, अध्ययन और व्यंग पर आश्चर्य होता है। उन्होंने अनेक आर्थिक और परिवारिक कठिनाइयों को सहन करते हुए पचास वर्ष निरन्तर हिन्दी हास्यरस सम्बन्धी साहित्य की जो निस्पृह सेवा की है, उसे कौन हिन्दी भाषाभाषी विस्मृत कर सकता है ? उसे देखकर इस अमर आत्मा के प्रति मस्तक कृतज्ञता से झुक जाता है।

हिन्दी नाटक विशेषतः प्रहसन को लोकप्रिय बनाने तथा रंगमञ्च से उसका निकट सम्पर्क स्थापित कराने में श्रीवास्तवजी ने वह युगान्तरकारी कार्य किया है, जो सैकड़ों साहित्यिक सम्मिलित रूप से न कर पाते। द्विवेदी युग के जिस काल में ये नाटक, प्रहसन, कहानियाँ, उपन्यास इत्यादि लिखे गये, वह हिन्दी नाटकों के लिये कठोर संघर्ष का युग था। हिन्दी जनता में पारसी प्रणाली के सस्ते अनूदित नाटकों का

विशेष प्रचार था। कुछ बंगला तथा अंग्रेजी के अनुवाद भी आये, उर्दू का व्यापक प्रचार था और प्रायः शेर गजल पद्धति का ही प्रयोग किया जाता था। इसी सक्रान्ति काल में जी० पी० श्रीवास्तव ने हिन्दी नाट्य तथा कहानी साहित्य की श्रीवृद्धि का बीड़ा उठाया था। उर्दू का प्रभाव उन पर था, पर वे हिन्दी में मौलिक रंगमञ्च के योग्य नाटक लिखने की ओर प्रवृत्त थे। इस साहित्य सेवा के लिए उन्होंने मौलियर का अध्ययन कर उसी शैली का हिन्दी में प्रयोग किया और उसमें पूर्ण सफल हुए।

श्रीवास्तव जी की मौलिक तथा अनूदित रचनाओं में स्पष्ट होनेवाली नाटकीय-प्रतिभा, व्यंग नाटकीयता और हास्य उद्रेक की शक्ति को कम या अधिक हिन्दी के सभी साहित्य इतिहास लेखकों या आलोचकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। कौन उनकी साहित्य साधना भूल सकता है? न उनमें धन प्राप्त करने की स्पृहा थी, न प्रशंसा, वे तो हिन्दी साहित्य के मूक साधक के रूप में स्वान्तः सुखाय निरन्तर हास्य-रस सम्बन्धी साहित्य का निर्माण करते रहे, हिन्दी में हास्य साहित्य की श्री वृद्धि करते रहे। किन्तु शोक! महाशोक! जिस साहित्य साधक ने हिन्दी नाट्य तथा कहानी साहित्य के विकास की ओर सेवा में जीवन खपा दिया और तीस पैंतिस वर्ष के दीर्घ काल तक सजीव नाटकों, प्रहसनों, कहानियों, उपन्यास आदि की रचना की है, उसके जीवन तथा साहित्य के विषय में विस्तार से मुझे कहीं ज्ञान या परिचय प्राप्त न हो सका। खेद का विषय है कि ऐतिहासिक दृष्टि से इतने महत्वपूर्ण नाट्यकार के जीवन, सिद्धान्तों एवं कृतित्व पर अभी तक किसी आलोचक ने कलम नहीं उठाई।

जब विस्तार से द्विवेदी युग के नाटक तथा कहानी वा उपन्यासों का इतिहास लिखा जायेगा, तो हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि श्रीवास्तव जी के नाटक एवं कथा-साहित्य का मूल्य, हिन्दी प्रहसनों को

लोकप्रिय बनाने में उनके सद्प्रयत्न, रंगमञ्च सम्बन्धी उनके प्रयोग और भाषा की व्यापकता को सराहा जायेगा। जब मैंने श्रीवास्तव जी के नाटकों के विषय का अपने अनुसन्धान के लिये पठन-पाठन और अध्ययन किया, ' थीसिस" तैय्यार करने में उनके समस्त साहित्य पर दृष्टि डाली तो उनकी साहित्य साधना को देखकर श्रद्धा से मस्तक झुक गया।

हास्य कहानी के क्षेत्र में भी श्रीवास्तव जी के हम चिरऋणी हैं। प्रोफेसर मोहनलाल 'जिज्ञासु' के शब्दों में हम श्रीवास्तव जी की कहानी कला का महत्व भली भाँति देख सकते हैं। 'जिज्ञासु' जी लिखते हैं—

"हास्य प्रधान कहानियों का सृजन हिन्दी में सर्व प्रथम श्री गंगा-प्रसाद श्रीवास्तव ( जी० पी० श्रीवास्तव ) ने सन् १९११ में अपनी प्रथम कहानी "पिकनिक" से किया। आगे चलकर और इस समय तक आते-आते उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखीं।

उन्होंने आरम्भ से लेकर अब तक अपने लिये हास्यरस के ही क्षेत्र को चुना। उनका हास्य लोकप्रिय भी अधिक हुआ। इसका सीधा सादा कारण तो यही है कि उन्होंने अपने सम्मुख लोक रुचि को अधिक रखा है। साहित्यिकता तो उसके बाद की चीज है। उन्होंने यद्यपि हास्य रस पूर्ण कहानियाँ पर्य्याप्त मात्रा में लिखी हैं, किन्तु ध्यान पूर्वक देखने से विदित होता है कि 'लम्बी दाढ़ी' उनका सबसे लोकप्रिय संग्रह हुआ है। ........शब्दों का चयन करने में उन्होंने विशेष कौशल से काम लिया है। ये शब्द ऐसे होते हैं जिन्हें पढ़कर हमें हँसी आने लगती है

....यह निस्संकोच स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने जो कुछ हमें दिया है वह अपने ढंग का निराला साहित्य है.........।"

कुछ और आलोचकों की सम्मति देखिये—

"कम्बख्ती की मार" में हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियाँ हैं। उन कहानियों में श्रीवास्तव जी का हास्य तो है ही, किन्तु साथ-साथ मनुष्य की कमजोरियों का अच्छा उद्घाटन

किया गया है। 'कम्बख्ती की मार' कहानी में यश लोलुप लेखकों की ख्याति—लालसा का खूब ही भण्डा-फोड़ किया गया है। 'पते की बात' में जमींदारों और राजाओं के कारिन्दों के वृथा रोब गाँठने की छीछा-लेदर की बात है। 'न कहने वाली बात' में पर्दा प्रथा से सम्बन्ध रखने-वाली एक विनोद पूर्ण घटना है। 'बे पर की बात' भी अच्छी कहानी है। 'बुढ़ापे की रात' में लेखक की पुरानी पुस्तक 'नोक-झोंक' का आभास मिलता है।.........सच्चे मानसिक हास्य की ओर झुकाव अधिक है।"❀

—श्री गुलाबराय एम० ए०

[ "साहित्य सन्देश" नवम्बर १९३८ ]

"हास्यरस की कहानियों के दो मुख्य लेखक हैं—जी० पी० श्रीवास्तव और अन्नपूर्णानन्द।... ...श्रीवास्तव जी की कुछ कहानियाँ हैं, 'जवानी के दिन', 'लम्बी दाढ़ी', 'लतखोरीलाल" आदि। आपकी कहानियों में हास्यरस मुख्य है, विषय सामाजिक या व्यक्ति सम्बन्धी हैं। चित्रण अत्यन्त वास्तविक और सच्चा है। शीर्षक कहानी को सूत्र रूप में छिपाये रहता है। वर्णन कथोपकथन बड़े सजीव होते हैं . भाषा बोल-चाल की मुहावरेदार है। शब्द कहीं चित्र-सा खड़ा कर देते हैं..."

—श्री त्रिलोक पाण्डेय

[ हिन्दी के कहानीकार "साहित्य सन्देश" अगस्त अंक पृष्ट २१० ]

उपन्यास क्षेत्र में 'चन्द्रकान्ता' आदि ऐय्यारी के उपन्यासकार श्री देवकी नन्दन खत्री, रोमाञ्चकारी उपन्यासों के निर्माता श्री किशोरीलाल गोस्वामी तथा जासूसी लेखक श्री गोपालराम गहमरी आदि के हिन्दी वाले चिरऋणी हैं। उसी प्रकार कहानी, प्रहसन तथा नाट्यकार जी० पी० श्रीवास्तव को भी हिन्दी वाले कभी विस्मृत नहीं कर सकते।

---

❀इस पुस्तक का दूसरा संस्करण हमारे यहाँ से शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।—प्रकाशक

इनके साहित्य की रोचकता, सजीवता और हास्य-व्यंग ने जनता के हृदय में हिन्दी के प्रहसन-साहित्य के प्रति उत्सुकता उत्पन्न की है। मुर्दा से मुर्दा दिलों में जान फूँक कर नीरस से नीरस विषयों में सरसता और हास्य का सञ्चार किया है। रेडियो पर प्रसारित होने वाली इनकी वार्ताओं में अभिनय का आनन्द आता है। इनमें उन्होंने अजीब-अजीब परिस्थितियों का चित्रण किया है कि सुनकर बरबस हँसी आती है।

श्रीवास्तव जी मूलरूप से आदर्शवादी समाज सुधारक हैं। वे आदर्श की खोज में हैं। हमारे समाज में जो जर्जरित रूढ़ियाँ, सड़े गले अंश, बनावटी जीवन, त्रुटिपूर्ण आचार-व्यवहार भरे पड़े हैं, उन सबका व्यंगात्मक रूप में उन्होंने पर्दा फाश किया है। 'बर्नार्ड शा' की भांति उन्होंने चुभते हुए व्यंगबाण कसे हैं, तो 'मौलियर'' की भांति हमारे समाज के खोखले नेता, मिथ्याचारी साहित्यिक, उपदेशक, सुधारक, सेठों-पूँजीपतियों आदि की मूर्खताओं की भी खिल्ली उड़ाई है। हास्य तो है ही. उससे अधिक उनकी रचनाओं में रोचकता, सजीवता, सुधार-वृत्ति और शिक्षा का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है।

---

# दूसरा परिच्छेद

## उद्देश्य

जी० पी० श्रीवास्तव की भिन्न-भिन्न विषयक रचनाओं को पढ़ने से मुझे ज्ञात हुआ है कि उनमें हास्यरस को उद्रेक करने की सहज स्वाभाविक क्षमता है और उनका हास्य कभी निष्प्रयोजन नहीं होता। उनमें मर्म छिपा रहता है। अपने व्यंग द्वारा उन्होंने समाज से कुरूपता दूर करने का प्रयत्न किया है।

प्रहसनों में उन्होंने किसी भी सामाजिक बुराई, विद्रूपता, रूढ़ी या मूर्खता को व्यंगात्मक त्रुटियों द्वारा प्रस्तुत कर हास्यास्पद बना दिया है। नाटकों में चरित्रों के सर्वाङ्गीण फोटो खींचे जाते हैं, तो एकांकियों और प्रहसनों में चरित्र के एक पहलू या विशेष समस्या पर विचार किया जाता है। कुछ कार्टून भी बनाये जाते हैं, क्योंकि प्रहसन लेखक को अपने उद्देश्य और लक्ष्य के कारण चारित्रिक मूर्खताओं द्वारा जनता का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना पड़ता है। इसी के साथ हास्य की आंधी एकदम उभार कर दर्शकों की छान-बीन की शक्ति को बहका देना होता है, जिससे लेखक की समाज सुधार वृत्ति खटकने न पावे और स्वाभाविकता का आवरण बना रहे। श्रीवास्तव जी ने अपने नाटकों, प्रहसनों, कहानियों, उपन्यास आदि में समाज सुधार निर्वाह के साथ-साथ स्वाभाविकता का आवरण बनाये रखने का विशेष प्रयत्न किया है। इसी कारण अनेक पात्रों तथा स्थितियों को हास्यास्पद बनाने में उन्हें अतिशयोक्ति का भी सहारा लेना पड़ा है।

कहने को यह कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं उनका हास्य उच्चकोटि का नहीं बन पड़ा है, किन्तु क्या विश्व के बड़े-बड़े सभी हास्य लेखकों का हास्य सर्वत्र एकसी ऊँचाई का रहा है? 'सरवैन्टिज' का

'डानक्विजोट' विश्व की एक प्रसिद्ध हास्य रचना मानी जाती है। स्विफ्ट का 'गुल्लिवर की यात्रा' भी अपने व्यंग्य के लिये प्रसिद्ध है; परन्तु उनमें भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जहां उनके उथलेपन पर उंगली उठाई जा सकती है। डान क्विजोट की मूर्खतापूर्ण हरकतें किसी विक्षिप्त मन के कार्यकलाप जैसी प्रतीत होती हैं। शेक्सपियर के विदूषक कहीं-कहीं इतने नीचे आ गये हैं कि यह सन्देह हो जाता है कि उस महान् नाट्यकार ने ऐसा क्यों कर लिख दिया! बर्नर्डशा का भी व्यंग कहीं-कहीं बुरी तरह स्पष्ट हो गया है। स्वयं मौलियर अनेक स्थानों पर उथले मालूम होते हैं। फिर यदि जी० पी० श्रीवास्तव की रचनाओं में कहीं अस्वाभाविकता या बेडौलपन मिल जाता है तो कौनसी नई बात है? जिन आलोचकों की दृष्टि दोष-दर्शन ही पर है उन्हें श्रेष्ठतम पुस्तकों में कहीं न कहीं कोई न कोई अपनी समझ के अनुसार त्रुटि प्राप्त हो जाना अवश्यम्भावी है। क्योंकि उसकी थाह लेना कि ऐसा क्यों किया गया, इसमें क्या रहस्य और गुण है, बच्चों का खेल नहीं होता। तभी तो श्रीवास्तव जी ने अपने "नाटक बनाम टॉकी" नामक भाषण में कहा है :—

"हमारे बहुत से समालोचक और सम्पादक भी—जिन पर रास्ता दिखाने का भार है—इस मामले में स्वयं ही ऐसे पथभ्रष्ट हो रहे हैं कि दाँतों तले उंगली दबाकर रह जाना पड़ता है। हड़, बहेड़ा और आँवला की तरह स्वाभाविकता चरित्रचित्रण और उच्चविचार, बस तीन दवायें हाथ लग गई हैं और इन्हीं के सहारे वे साहित्य संसार के वैद्यराज बन बैठे हैं।"

इस सम्बन्ध में श्रीमती कमलादेवी पाण्डेय के विचार भी जो उन्होंने श्रीवास्तवजी की "बौछार" का सम्पादन करते हुए अपने निवेदन में अंकित किये हैं उल्लेखनीय हैं :—

"दिन के साथ रात और गुण के साथ दोष का होना आवश्यकीय

कहा जाता है। इसलिए जब गुरुदेव की कला में कोई दोष नहीं मिलता तो कोई-कोई उनकी रचना में कहीं कहीं पर अश्लीलता और भोंडापन का कलंक लगाने का उद्योग करते हैं। उन लोगों की देखा-देखी एक दिन गुरुदेव का ध्यान उस ओर मैंने आकर्षित किया। उन्होंने हँसकर कहा—"क्या करूँ बच्ची, मैं ढोंग नहीं कर पाता।" इस नन्हें और अत्यन्त ही गहरे उत्तर से मैं कट मरी और मेरी आँखें खुल गईं। अब जो उन अंशों को देखा तो उनमें सचमुच प्रकृति की अटलता और कला की अपूर्व बहार दिखाई पड़ी।"

उदाहरणार्थ 'बौछार' प्रहसन में देखिये—रमई कहता है—"जइसे घर से निकसेन, वइसे भेंटाय गये परधान। कहिन—'बगिया में पेसाब काहे किहो?' हम कहा—"हमार बगिया होय, हमरे बाप के पेड़ लगाया होय।" वइसे दिहिन तमाचा और कहिन—"तब अपने पेड़ पर काहे नाहीं चढ़ गयो रहा? जानत नाहीं हो हम गड़ामसभा होई। सगरो भुइयाँ के मालिक।"

ऐसे अशों पर शिष्टता और उच्चता की दोहाई देनेवाले नाक भव सिकोड़ने को सिकोड़ें, मगर उसी के साथ कला की दृष्टि में वह इसकी भी पोल खोल बैठते हैं कि हम कितने पानी में हैं। प्रधान जी के इन चार शब्दों की फटकार से ही उनका चित्र आँखों के सामने खिंचकर उनके स्वभाव, मनोवृत्ति, आत्माभिमान और पदाधिकार के साथ साथ उनकी घोर मूर्खता और अयोग्यता का वास्तविक परिचय देता है कि हास्य खिलखिला उठता है। सुधार दाँत पीसता है और कला चकित होकर लेखनी की बलइयाँ लेने लगती है।

श्रीवास्तवजी की प्रत्येक रचना में एक सुनिश्चित उद्देश्य है। जिस युग में इनके साहित्य की रचना हुई थी वह अनेक सामाजिक त्रुटियों, रूढ़ियों और विद्रूपताओं से परिपूर्ण था। अनेक समाज सुधारकों को

दृष्टि समाज सुधार की ओर गई थी। इनमें श्रीवास्तवजी भी हैं, जिन्होंने हास्य-व्यंग्यमय शैली में वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, सामाजिक ढोंग, धार्मिक पाखण्ड, आत्माभिमान, प्रकाशकों की धाँधली आदि सभी क्षेत्रों की बुराइयों को सुधारहेतु प्रस्तुत किया है। अपने उद्देश्य की सिद्धि तथा जनता का ध्यान विद्रूपता की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिये कहीं कहीं उन्हें अति नाटकीय चरित्रों और परिस्थितियों की सृष्टि करनी पड़ी है। कहीं भाषा को हास्यमय शैली द्वारा तो कहीं बेतुकी पोशाक सूरत शकल तथा हास्यास्पद कार्यों द्वारा उन्होंने हमारे हृदय में उन बुराइयों को भस्म कर देने के लिये सुधार की आँच भड़काने की चेष्टा की है।

"जी० पी० श्रीवास्तव ने अनेक रीतियों द्वारा हँसी उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जिनमें किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से स्थान परिवर्तन, छिपकर अपनी ही निन्दा सुनना, किसी व्यक्ति को दूसरा समझ कर उससे अद्‌भुत व्यवहार करना इत्यादि मुख्य हैं ......"

—डा० श्रीकृष्णलाल एम० ए०, डी० फिल

[ **आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पृष्ठ २६७** ]

यह तो सभी को मानना पड़ा है कि श्रीवास्तवजी हँसाते-हँसाते लोटन कबूतर बना देते हैं, परन्तु उसके साथ कुछ न कुछ खुरपेंच भी लगा दिया जाता है। कभी अश्लीलता, कभी अतिशयोक्ति वा अस्वाभाविकता, कभी फूहड़पन का, चाहे द्वेष भाव से, चाहे अज्ञान वा पाखण्डवश, चाहे अपनी उच्च रुचि तथा योग्यता के प्रदर्शन में क्योंकि हास्य की करामात दिखाना साँप के साथ खेलना होता है। जहाँ तनिक भी असावधानी हुई या त्रुटि आ गई तहाँ हास्य की तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। फिर हँसी आ ही नहीं सकती। जहाँ दिल खोलकर हँसी आ गई, वहाँ लेखक की सफलता का पूर्णरूप से डंका पिट गया।

अश्लीलता का कलंक प्रायः श्रीवास्तवजी पर उन दिनों लगाया जाता था, जब हमारा साहित्य संकुचित विचार और समाज की जीर्णशीर्ण परम्पराओं का अन्ध-पुजारी था। इतना कि विधवाविवाह का नाम तक भी पुस्तकों में नहीं देख सकता था और समाज के विरुद्ध एक शब्द भी सुनना उसे असह्य था। इसी कारण श्रीवास्तवजी के 'प्राणनाथ' को उस समय कई प्रकाशक प्रकाशित करने का साहस न कर सके। श्रीवास्तवजी ठहरे समाज के सुधारक, प्रकृति के पुजारी और स्वतन्त्र विचार के लेखक। उनके गुण उन दिनों दोष के रूप में दिखाई पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके अतिरिक्त आरम्भ में श्रीवास्तवजी ने अपने गुरू जगत्विख्यात हास्य नाट्यकार 'मौलियर' के प्रहसनों को 'मार मारकर हकीम', 'आँखों में धूल' और 'चाल बेढब' के नामों से हिन्दुस्तानी बनाया था। इससे समाज के पुजारियों में खलबली मच गई थी। अश्लीलता का आरोप लगा बैठे। इस तत्व के परखने का कष्ट नहीं उठाया कि हम यह दोलत्ती श्रीवास्तवजी पर झाड़ रहे हैं या नाट्यकार शिरोमणि 'मौलियर' पर जिनकी प्रशंसा संसार के ज्ञानियों ने की है और सदा करेंगे।

इसके अनन्तर 'नोक-झोंक' के चमत्कार पूर्ण निबन्धों तथा 'गंगाजमुनी' की अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक कहानियों पर भी यही कलंक लगा। क्योंकि जब केवल एक शब्द 'अश्लीलता' से सारी साहित्यिक बलायें टल जायें और समालोचक बन बैठें तो उद्देश्य, कला, प्रभाव, चरित्रचित्रण, हास्य रहस्य, सूझ, ज्ञान, उपज के झगड़े में कौन पड़े?

समालोचना पथ प्रदर्शन के लिए होती है। परन्तु वह लोग श्रीवास्तवजी को भला क्या रास्ता बता सकते थे जिनकी पोल उन्होंने स्वयं ही 'भडामसिंह शर्मा', 'न घर का न घाट का' 'पत्रपत्रिका सम्मेलन' 'साहित्य का सपूत' 'दिल जले की आह', 'मरदानी औरत'

तथा 'भय्या अकिल बहादुर' आदि कृतियों में ऐसी खोल रखी है कि हँसते हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं ? हद हो गई कि 'चाल-बेढब' की समालोचना करते हुए एक महापुरुष ने 'नाजुक-बदन' के शब्द को भी अश्लील बता दिया। श्रीवास्तवजी ने भी इसके उत्तर में 'नाजुक-बदन'* ही के नाम से समालोचक जी पर एक कहानी लिख मारी

शेक्सपीयर के लोक प्रसिद्ध नाटकों में ( १ ) जूलियस सीजर ( २ ) हैम्लेट और ( ३ ) मैकबेथ अत्यन्त ही उच्चकोटि के माने जाते हैं। तीनों में प्रेतात्माओं का सशरीर प्रदर्शन कराया गया है। क्या यह हमारे यहाँ के समालोचकों की दृष्टि में यह सब अस्वाभाविक नहीं हैं ? परन्तु संसार के ज्ञानियों को एक मत से स्वीकार करना पड़ा कि इस प्रकार जन-साधारण के अन्ध विश्वास को निबाहते हुए प्रेतात्मा देखनेवाले की मानसिक दशा के अनुभव कराने का इतना उत्तम उद्योग किया गया है कि दर्शकगण भी थर्रा उठते हैं और ऐसे विन्हलित हो जाते हैं कि यह अस्वाभाविकता नहीं खटकती। यही नाटकीय कला है, लेखनी का चमत्कार है, जिसे आप विस्तार रूप से इस पुस्तक के तृतीय खण्ड में देखेंगे। इसी प्रकार श्रीवास्तवजी ने भी जहाँ कहीं अतिशयोक्ति से काम लिया है वहाँ उन्होंने अपनी कला से कुछ ऐसा जादू भी डाला है कि हम उसको अक्षर-अक्षर सत्य मानने को विवश हो जाते हैं।

श्रीवास्तवजी का उद्देश्य है समाज सुधार। सुधारने के लिये राम या कृष्ण के समान आदर्श चरित्र नहीं होते। होते हैं, महा ऐबी, दोष-पूर्ण और निम्न कोटि के। यह लोग अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही बातचीत करेंगे, गीता का ज्ञान नहीं छाँट सकते। जैसा चरित्र होगा, वैसा ही उसके लिये वातावरण भी होना चाहिये। यदि

---

* यह कहानी 'कम्बख्ती की मार' में है।

क[भी] छीलनी पड़े तो वह खुर्पे ही से छीली जा सकती है। उत्तरे से नहीं।

कभी किसी विशेष रंग को झलकाने के लिये उसके सहकारी रंगों को फीका या भद्दा भी करना पड़ता है। इसलिये किसी लेखक का मूल्याङ्कन करते समय हमें उसके उद्देश्य और साधनों पर भी विचार करना चाहिये। लेखक ने किस उद्देश्य से अपनी रचना प्रारम्भ की है? उसने अपनी इष्ट सिद्धि के निमित्त कैसा प्रयत्न किया? उसकी निष्ठा और परिश्रम किस कोटि का हुआ है? उसे कहां तक सफलता प्राप्त हुई है? इन प्रश्नों की कसौटी पर कसने पर श्रीवास्तवजी की साहित्य साधना खरी उतरती है। उसमें स्फूर्ति और प्रेरणा देने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

श्रीवास्तवजी एक क्रान्तिकारी विचार के हैं, जो समाज की सड़ी-गली व्यवस्था और अंधविश्वासों से नितान्त असन्तुष्ट हैं।* स्वयं अपने जीवन में सामाजिक रूढ़ियों, जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं और आर्थिक असमानता की चक्कियों में अच्छी तरह पिसे कुटे हैं। अनुभवों के आधार जो-जो विद्रूपतायें उन्हें समाज में मिली हैं, उन्हें उन्होंने अपनी हास्य निर्झरणी द्वारा अपने प्रहसनों में मूर्तिमान कर दिया है। ये नाटक एक प्रकार के दर्पण हैं, जिसमें समाज की गन्दगी और कुरूपता पर मीठा व्यंग है। जिन विद्रूपताओं को नाटकों और कहानियो में अतिरंजित रूप में चित्रित किया गया है उन्हें देखकर हमें अपनी मूर्खता एवं अदूरदर्शिता पर हँसी आये बिना नहीं रहती। यही लेखक की सफलता का प्रमाण है। वह हमें कमजोरियों पर गंभीरता से सोचने-विचारने को बाध्य कर देता है

---

* देखिये इस पुस्तक का जीवनी खण्ड।

# तीसरा परिच्छेद

## लोक-प्रियता

जी० पी० श्रीवास्तव की हिन्दी साहित्य साधना का प्रारम्भ उनकी छात्रावस्था सन् १९११ में ही हो गया था। सन् १९१३ में उनकी प्रथम पुस्तक "लम्बी दाढ़ी" सजीव हास्यरस प्रधान रचना के प्रकाशित होते ही उनकी ख्याति की धूम मच गई। आज भी यह सजीवता परिस्थिति-जन्य हास्य तथा वर्णनशैली की दृष्टियों से हास्यरस प्रधान कहानियों का मार्मिक संग्रह है। सच पूछिये तो इसी को लिखकर श्रीवास्तवजी अमर हो गये। एक युग था जब "लम्बी दाढ़ी" बाल-साहित्य की सर्वोत्तम और लोकप्रिय पुस्तक थी। बच्चों और युवकों में इसका व्यापक प्रचार प्रसार हुआ। जिसने पढ़ा वही लोट-पोट हो गया। कालिज और स्कूल के जीवन की मस्ती, शरारत और मादक उमंगे आज भी इसके पृष्ठों में जीती जागती मौजूद हैं। श्रीवास्तवजी की परिस्थितिजन्य हास्य का उद्रेक करने की सहज स्वाभाविक प्रतिभा इसी ग्रन्थ से प्रमाणित हो गई।

लोक प्रियता और सजीवता की दृष्टि से "लम्बी दाढ़ी" का कैसा स्वागत हुआ और जन-जन की जिह्वा पर इसका कैसा नशा-सा छाया रहा, इसका अनुमान हमें इस पुस्तक पर लिखी दो सम्मतियों से हो सकता है। पहली सम्मति श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी की है :—

"लम्बी दाढ़ी श्वेत हुई, पर नहीं मूर्खता करते हैं।
नव युवकों का आदर करते, उनसे कभी न डरते हैं॥

× × ×

रसिक मित्र का रत्नहार मैं इनको ही पहनाता हूँ।
कोमल कलित कमल कलिका को इनके शीश चढ़ाता हूँ॥"

दूसरी है आपके सहपाठी उर्दू के विख्यात कवि चौधरी जगत मोहन-लाल "रवाँ" की —

"पत्रों में खोजते हैं सब हास्यरस के प्रेमी।
जी० पी० की इसमें लिखी कितनी कहानियाँ हैं॥

× × ×

श्रीवास्तवजी की तारीफ़ हो सके क्या!
उनकी तमाम बातें प्यारी कहानियाँ हैं॥"

हिन्दी को लोकप्रिय बनाने तथा उसकी ओर अन्तर्प्रान्तीय पाठकों की अभिरुचि आकृष्ट करने में श्रीवास्तवजी की सेवायें चिरस्मरणीय रहेंगी। वे उन साहित्य सेवियों में हैं जिनकी कहानियों, नाटकों, या उपन्यासों की बिक्री या प्रचार के लिये किसी प्रोपेगण्डा या व्यापक प्रचार की आवश्यकता नहीं पड़ी है। वे स्वयं नाटयकार की मौलिक प्रतिभा तथा स्वाभाविक हास्य उद्रेक करने की शक्तियों के कारण दस बीस हजार प्रतियां तक बिकी हैं। भारत के कोने-कोने पर जहाँ कहीं हिन्दी बोली और समझी जाती है, उन्होंने अपना स्थान बनाया है।

श्रीवास्तवजी यथार्थवादी व्यंगकार हैं। वे साहित्य में सरलता, नवीनता और स्वाभाविकता के सच्चे पुजारी हैं। समाज के झूठे दिखावे, जीर्णशीर्ण रूढ़ियाँ, व्यर्थ की छुआछूत, शोषण के कृत्रिम बन्धनों को उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से देखा है और तीखी बातें कहकर मिथ्या आवरण को दूर कर दिया है। साहित्य को संकुचित रूढ़ियों के बन्धनों से निकाल कर उन्होंने यथार्थता और वास्तविकता को अग्रसर करने का प्रयत्न किया है। तत्कालीन सामाजिक त्रुटियां उनके व्यंगबाण के प्रहारों से छिन्न भिन्न हुई हैं और संकुचित वृत्ति के पुरानपंथी, पाखण्डी, धूर्त तिलमिला कर रह गये हैं। धार्मिक, साहित्यिक और

सार्वजनिक नेताओं के छिछले ज्ञान का उन्होंने जो खाका खींचा है वह देखते ही बनता है। वे सुधार के प्रेमी और कला के सच्चे पुजारी हैं।

उनके हास्य तथा शब्दों की आड़ में कैसी खरी वास्तविकता और सुधार की प्रेरणा भरी होती है उनकी निम्नलिखित नन्हीं सी कहानी पढ़ कर आप स्वयं ही जान लेगें, जो आपके विनोदार्थ यहां पर उद्धृत की जाती है।

## तुर्की-बतुर्की

एक ऐसे ही साहित्यिक गोष्ठी थी। गोष्ठी का विषय था नारी। इस विषय पर खूब खूब आलोचनायें होने के बाद अन्त में एक महिला ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की—

"आहाहा! नारी का क्या कहना है। बच्ची के रूप में भवानी। किशोरी अवस्था में परी। प्रेमिका के रूप में सञ्जीवनी। बहू के रूप में लक्ष्मी। सास के रूप में जगदम्बा तो पत्नी के रूप में साक्षात् देवी होती है। इसका जितना ही बखान करो उतना ही कम है।"

"क्यों नहीं, क्यों नहीं" कहते हुए एक व्यंग्य लेखक उठ खड़े हुए और लगे कहने—"यह तो देवीजी ने नारी के बाहरी रूप का वर्णन किया है। जैसा साहित्य की पुस्तकों में होता है, परन्तु नारी का भीतरी रूप यथार्थ में क्या है, बुरा न मानिये तो मुझसे सुन लीजिये—

"नारी का जन्म माता पिता का दुर्भाग्य है। किशोरी अवस्था में वह प्राणघातक क्लोरोफार्म, प्रेमिका के रूप मे शक्कर मढ़ा हलाहल विष, बहू के रूप में सास जी की डबल निमोनिया, सास के रूप में बहू के लिये हैजा की बीमारी और पत्नी के रूप में पतिजी के लिये १०८ डिगरी की हरदम जूड़ी बुखार होती है।"

अब तो एक व्यंग्य लेखिका जो संयोग से वहाँ थीं कसमसा उठीं और झट प्लेटफार्म पर आकर लगीं पुरुषों के सत्कार में इस प्रकार भाषण देने—

"पुरुष और नारी का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि बिना पुरुषों के गुणों पर प्रकाश डाले 'नारी' का प्रसंग पूरा हो ही नहीं सकता। इसलिये पुरुष यथार्थ में क्या होता है, वह स्वयं देख लीजिये—

"पुरुष बचपन में शैतान, छात्रावस्था में घरफूँक बहादुर, प्रेमी के रूप में काठ का उल्लू, दामाद के रूप में ससुराल का तपेदिक, पिता के रूप में पृथ्वी का भार, ससुर के रूप में कफन खसोट तो पति के रूप में एकदम डैम—ब्लडी-फूल होता है।"

"अब तो दोनों का लोहा मानते हुए दर्शकों ने कहा—हाँ इस डैम—ब्लडी-फूल और इस जूड़ी बुखार की जोड़ी अलबत्ता अच्छी मिली। फिर क्या सभापतिजी ने दोनों के हाथ मिलवाकर चट विवाह मन्त्र भी पढ़ दिया।"

हास्य तथा शृङ्गार रसों के क्षेत्र में श्रीवास्तवजी को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। आपके साहित्य का ध्येय मानव जीवन और समाज के विभिन्न रोगों, त्रुटियों, कमजोरियों, रीति रिवाजों, संकुचित वृत्तियों पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डालकर नवीन रोचक और हास्य-व्यंग-मय रूप से दिग्दर्शन कराना है और उनकी कुत्सित बुराइयों को उभार कर कटाक्ष और चुटीले व्यंग औजारों से नष्ट करता है। अपने सम्पूर्ण साहित्य द्वारा आपने मातृभाषा हिन्दी के भण्डार को भरा है और समाज को स्वस्थ बनाकर मानव कल्याण का प्रशस्त पथ दिखाया है।

श्रीवास्तवजी की कृतियों की लोक-प्रियता 'नवजीवन' के निम्न पद से यथेष्ट रूप से प्रगट होती है :—

"हे 'साहित्य सपूत' खूब जुग में 'गुदगुदी' मचाई।
दुनिया की 'लम्बी दाढ़ी' में हास्य गुलाल लगाई॥

ए जी० पी० हो किसके, क्यों 'मरदानी औरत' भाई।
'भूलचूक' हो माफ, उन्हीं ने 'दिल की आग' लगाई॥

कहें 'चौखटा नन्द' वकालत अपनी सफल बनाओ।
हे 'लतखोरीलाल' सदा लतखोरी करते जाओ॥"

---

# चौथा परिच्छेद

## विशेषताएँ

श्री जी० पी० श्रीवास्तव की शैली मौलिक, एकदम निराली और अत्यन्त प्रभावशाली है। शब्दों के चुनाव और भाषा के प्रवाह का कहना ही क्या है। उन्होंने उर्दू, हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी के चलते शब्दों का मुहावरेदार प्रयोग कर विचारों को सहज स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त किया है। वे भाषा में कृत्रिमता, क्लिष्टता या संस्कृत गर्भित कठिन शब्दावली के विरोधी हैं। अपने उद्देश्य तथा साहित्य को अधिक से अधिक जनता तक पहुँचाना, बुराइयों का पर्दा फाश करना, उन पर कभी टीका टिप्पणी करना, कभी मुस्कुरा भर देना और कभी खिलखिला कर हँस देना—व्यंग्य विनोद पूर्ण ये शैलियाँ आपके साहित्य में उपलब्ध हैं। उनके समस्या प्रधान प्रहसनों को पढ़कर हम स्वयं अपनी मूर्खताओं पर हँसते हैं।

आपकी हास्य-कला की विशेष उल्लेखनीय विशेषताओं में सबसे पहली यह है कि 'शीर्षक' इतना आकर्षक होता है, जिस पर दृष्टि पड़ते ही अपने आप अटक जाती है। उसके पश्चात् कुछ ऐसे विचित्र और नवीन ढंग से उत्सुकता उभार कर हृदय को पकड़ लेती है कि फिर अन्त तक छोड़ना जानती ही नहीं। इसके अतिरिक्त रचना में किसी न किसी नवीनता का मिलना आवश्यक है। चाहे वह वर्णन में हो अथवा शैली, घटना, चरित्र, कथानक आदि में।

दूसरी विशेषता यह है कि—"वह शुष्क से शुष्क विषय को भी इतना रोचक और हास्यमय बना देती है कि प्रशंसा नहीं हो सकती। 'चौक्कार', 'साहित्य का सपूत', 'मोहनी', 'उलटफेर' आदि इसका समर्थन पूर्ण रूप से करते हैं।*

तीसरी विशेषता चरित्रचित्रण के चमत्कार में है जिसके द्वारा आपकी लेखनी हास्य चरित्रों का सफाई से निर्माण करके उनको केवल सजीव ही नहीं बनाती, प्रत्युत उनको अमरत्व भी प्रदान करती है। यदि स्पेन के सरवैन्टिज ने 'डानकिजोट', अंग्रेज उपन्यासकार डिकेन्स ने 'मिस्टर पिकविक' फ्रान्स के मौलियर ने 'जैनरेल' अमेरिका के पी० जी० उडहाउस ने 'जीव्स', उर्दू में पं० रतननाथ सरशार ने 'खोजी' जैसे चरित्रों को अमर बना दिया है, तो हमारे जी० पी० श्रीवास्तव ने भी 'भड़ामसिंह शर्मा' 'लतखोरीलाल' 'स्वामी चौखटानन्द' 'भय्या अकिलबहादुर' 'सूदीमल' 'तीसमारखाँ' आदि एक से एक उत्तम हास्य चरित्रों की उत्पत्ति करके उन्हें ऐसा अमर कर दिया है कि हिन्दी में ही नही कुछ चरित्र विश्व के हास्य साहित्य में भी आदर एवं गौरव पाने योग्य हैं।

'भड़ामसिंह शर्मा' के सम्बन्ध में श्री द्वारिकाप्रसाद 'सेवक' भूतपूर्व सम्पादक 'नवजीवन' ने इस पुस्तक के अपने 'परिचय' में कहा है—"श्रीवास्तवजी की उपज का कहना ही क्या! आपकी प्रत्येक पुस्तक अनूठी उपज का उज्ज्वल स्वरूप है। हिन्दी अपने इस रसिया सपूत पर उचित गर्व करती है।..........लोग कहते हैं कि महाशय भड़ामसिंह शर्मा उपदेशक का चरित्र चित्रित करते हुए कुछ अधिक अत्युक्ति से काम लिया गया है। 'नवजीवन' में प्रकाशित होते हुए हमारा भी कुछ ऐसा ही विचार था। किन्तु अभी थोड़े ही दिन हुए हमें नखशिख में बिल्कुल ठीक महाशय भड़ामसिंह शर्मा जैसे अर्धांगिनी सहित उपदेशक महानुभाव के साथ कुछ दिन सहवास का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हमने उनमें और महाशय भड़ामसिंह में बाल बराबर भी कमी नहीं देखी। वरन् कुछ विशेषतायें ही थी।"

चरित्र-चित्रण की अतिरंजना होते हुए भी श्रीवास्तवजी की सच्चाई,

* श्रीमती कमलादेवी पांडेय—"बौछार" की भूमिका से।

पैनी दृष्टि और त्रुटियों को उभारनेवाली कला मौलिक है। वे एक सफल व्यंग्यकार हैं और व्यंग्य-शस्त्र के प्रयोग में अपना सानी नहीं रखते।

चौथी विशेषता गूढ़ तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव की अभिव्यञ्जना में पूर्ण स्वाभाविकता और सजीवता को अंकित करने में है जिसकी थाह 'नोक-झोंक', 'गंगाजमुनी' और 'दिलजले की आह' में यथेष्ट रूप से मिलती है। इस सम्बन्ध में 'नोक-झोंक' की प्रस्तावना में हिन्दी महारथी पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा का कथन सत्य है—

"........स्त्री के हृदयगत भावों की ऐसी सहज, पर साथ ही सजीव भाषा में चित्र उतारना कुछ श्रीवास्तवजी का ही काम था। इन निबन्धों से अन्तर्ग्राहिणी शक्ति तथा मनुष्य विशेषतः रमणी के स्वभाव का पूर्ण ज्ञान प्रकट होता है।"

सबसे अपूर्व विशेषता का उल्लेख पटना कालेज के वाइस प्रिन्सिपल, साहित्य मर्मज्ञ डा० हरीचन्द्र शास्त्री एम० ए०, डी० लिट, आई० ई० एस०, ने पटना साहित्य सम्मेलन के अवसर पर इस प्रकार किया था—

"हिन्दी ही नहीं वरन् विदेशी साहित्य फ्रेञ्च और जर्मन तक में भी मुझे श्रीवास्तवजी के समान अन्य कोई लेखक दिखाई नहीं पड़ा है, जिसकी लेखनी हास्य और करुण दोनों रसों में समान सफलता प्राप्त कर सकी हो।"* यह हिन्दी भाषा के लिये गौरव की बात है।

---

* The Leader—25-11-32.

"......Dr. Hari Chand Shastri I. E. S., proposing Mr. Srivastava to the chair, said, Mr. Srivastava's writings were appreciated in the whole of Upper India right up to the Punjab. From his knowledge of other literatures inclu-

अपने थीसिस के सम्बन्ध में अनुसन्धान कार्य करते समय उनकी समस्त रचनाओं, विशेषतः एकांकी नाटकों एवं प्रहसनों का अध्ययन करने पर मुझे आपकी लेखनी की छठी विशेषता ज्ञात हुई। वह यह कि गद्य साहित्य के गल्प उपन्यास, प्रहसन, नाटक, गद्यकाव्य, निबन्ध, भाषण, रेडियो-वार्ता तथा शिक्षा सभी क्षेत्रों में आपकी लेखनी अपनी उपज, नवीनता और मौलिकता का डंका पीटती हुई अपना प्रभुत्व समान रूप से जमा चुकी है। यदि अंग्रेजी साहित्य को उसके विविध क्षेत्रों में समान सफलता प्राप्त करने वाले 'गोल्ड स्मिथ' पर गर्व है, तो उससे भी अधिक गर्व हिन्दी साहित्य को श्रीवास्तवजी पर है और सदा रहेगा। लेखनी की विविधता एवं विचित्रता जितनी श्रीवास्तवजी ने प्रदर्शित की है उतनी किसी हास्यरस के लेखक ने नहीं दिखाई है।

अब यहां पर श्रीवास्तवजी की एक सम्मति उद्धृत की जाती है, जिससे उपर्युक्त कुछ विशेषताएँ स्वतः स्पष्ट हो जायँगी। सन् १६५६ के होली के अवसर पर 'कर्मयोगी' ने अपना विशेषाङ्क निकाला जिसके एक लेख में होली के अनुकूल कुछ विचित्र नुसखे और एक लेख में नये नये आविष्कार दिये गये थे और सबसे बड़ी विचित्रता इस अङ्क के गुप्त चित्र में थी जो किनारों से घिरा हुआ एक खाली स्थान था जिसके नीचे यह लिखा था कि इसको पानी में डालकर देखिये और इसके गुप्त चित्र का आनन्द लीजिये।

"यों तो यहीं वह गजब के नुसखे दिये गये हैं कि हजरत लुकमान को भी न सूझे होंगे और इसके आविष्कार का हाल क्या बताऊँ कि उसके आगे संसार भर के साइन्टिस्टों की अक्ल गुम है। फिर भी इन चमत्कारों के होते हुए भी इस अंक का सबसे बड़ा चमत्कार इसके गुप्त चित्र में है। इसके देखते ही मुझे तो बीरबल की एक कहानी याद आगई।

---

ding German and French, besides Hindi. Dr. Shastri said, "He knew of no writer who had been as much a success with both Hasya and Karun Ras......"

बीरबल और एक मौलाना में अक्ल की बाजी में बराबर लाग-डाँट लगी ही रहती थी। वह समझते थे कि हम बड़े और यह समझते थे कि हम बड़े। इसकी खबर अकबर बादशाह को भी थी। इसलिए उन्होंने एक दिन एक गाढ़े का टुकड़ा फड़वा कर कहा कि जो इस कपड़े को सवा लाख रुपये में बेच लावे उसे मैं अलबत्ता बड़ा समझने को तैयार हूँ। पहले मौलाना साहब उस कपड़े के टुकड़े को बेचने निकले। किसी ने चार पैसे से ज्यादा दाम तक नहीं लगाया। अब यह मुसीबत बीरबल के मत्थे पड़ी। उन्होंने कई हजार का जवाहिरात का जड़ाऊ एक बक्स खरीदा और उसी के साथ कई हजार के कीमती से कीमती रेशमी जरी के कपड़े खरीदे और जाकर एक रियासत के सराय में अड्डा डाला।

उस रियासत में खबर फैल गई कि कपड़ों का एक ऐसा सौदागर आया है कि जिसके खाली कपड़े वाला बक्स हजारों रुपये का है। इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इसके भीतर कितने बेशकीमती कपड़े होंगे।

नवाब साहब तक यह खबर पहुँचते ही नवाब साहब ने फौरन सौदा-गर को बुलवा भेजा। बीरबल ने यह कहकर उनके आदमियों को लौटा दिया कि आपके नवाब साहब के पास जाना बेकार है क्योंकि मेरे कपड़े इतने कीमती हैं कि वह खरीद ही नहीं सकते। मैं तो अकबर बादशाह के पास जा रहा था। क्योंकि उनके सिवाय और कोई मेरे कपड़े का खरीददार दिखाई नहीं पड़ता। यहाँ तो जरा सफर की थकान दूर करने के लिये ठहर गया हूँ।

नवाब साहब ने यह बातें सुनते ही ताव में आकर सौदागर को पकड़ बुलवाया।

सौदागर बराबर यही कहता रहा कि मेरे पास बिक्री के लिये सिर्फ

एक ही कपड़ा है जिसका दाम ढाई लाख रुपये हैं। इसीलिये बेकार आपको तकलीफ नहीं देना चाहता था और न चाहता हूँ।

नवाब साहब ने हुकुम दिया —"अच्छा अपना कपड़ा दिखाओ तो!" सौदागर ने बड़ी मजबूरी दिखलाते हुए अपना बक्स खोला और उसके भीतर से एक बड़ा सा पुलिन्दा रेशमी और जरी के कपड़ों से लिपटा हुआ निकाला।

सौदागर साहब पुलिन्दे पर से एक-एक रेशमी और जरी के कपड़े को इतने तकल्लुफ से खोलने लगे मानो उसके भीतर कोई अनोखी चीज है जो शायद उड़ जाये। नवाब साहब और दरबारियों की इतने कीमती कपड़ों की एक-एक तह खुलने पर उत्सुकता बढ़ने लगी।

आखिर सैकड़ों तह खुलने पर निकला क्या? गाढ़े का एक रूमाल! लोगों की आँखें निकल पड़ीं। नवाब साहब बेसब्र होकर पूछ ही बैठे "अरे इस टुकड़े में कौन सी ऐसी खूबी है जो........"

बीच ही में सौदागर साहब अपने दोनों कान पकड़ कर बोले—"हाँ हुजूर, ऐसा गजब न कीजिये। यह अल्लामियाँ का रूमाल है–रूमाल! जरा इज्जत से इसका जिक्र कीजिये।"

यह कहकर सौदागर साहब ने रूमाल के सामने अपना सर झुका दिया और कहा कि इसमें अल्लामियाँ की सूरत दिखाई पड़ती है। मगर उसी को जो अपने असल बाप का है!

फिर तो जिस दरबारी ने रूमाल को देखा, पहले तो वह हिचका फिर सम्हलकर बोला—"हाँ हुजूर सचमुच। वाह क्या शानदार सूरत है!"

दूसरा रूमाल देखकर बोला—"और दाढ़ी तो देखिये कितनी लम्बी है!"

तीसरे ने कहा—"और तारीफ तो यह है कि मुस्कुरा भी रहे हैं!"

अब नवाब साहब को भी सूरत दिखाई पड़ी। उन्होंने निहायत अदब से उस सूरत को सलाम भी किया।

सौदागर साहब अपने ढाई लाख रुपये नक्द करके लम्बे पड़े।

कुछ देर के बाद एक दरबारी से न रहा गया। दूसरे दरबारी के कान में कहा—"शायद मैं असल बाप का लड़का नहीं हूँ इसलिए मुझे तो कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। तुमने क्या देखा?"

वह बोला—"यही बात इधर भी है। मगर भरी महफिल में आबरू कैसे दे सकता था?"

यह कानाफूसी महफिल भर में गूँजती हुई नवाब साहब के कानों तक पहुँची। वह हिचकिचाते हुए बोले—"क्यों जनाब! क्या यह सारी महफिल की महफिल हरामी निकल गई?"

एक ने हाथ जोड़कर कहा—"हुजूर तो हमलोगों के माई बाप हैं गुस्ताखी माफ। अपने हाल पर भी कुछ रोशनी डालिए।"

अब तो सौदागर को पकड़ कर लाने के लिए पूरी फौज का धावा करने का हुकुम हो गया। मगर अब उसका कहाँ पता? वह तो बीरबल के असली रूप में अकबर बादशाह से अपनी बड़ाई पर शाबाशी ले रहे थे।

यही मजा इस अंक के गुप्त चित्र में है। उस पर 'लंठ' आजमगढ़ी की टीप की यह ध्वनि -

"बने हैं 'लंठ' 'शंकर' का नया 'कार्टून' होली में"

क्या कहना है। जीरे में नमक का मजा दे रहा है।

—:०:—

# पाँचवाँ परिच्छेद

## भाषा का सुधार

यों तो सभी लेखक अपने ढंग से मातृभाषा के प्रेमी होते हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य ही है कि अपनी कृति से भाषा का भण्डार भरें, परन्तु लिखने के लिये निज ख्याति का वे विशेष ध्यान रखते हैं। अपने मान प्रतिष्ठा के समक्ष उनमें मातृभाषा का उपकार और साहित्य-सुधार का भाव गौण रह जाता है।

परन्तु मातृभाषा के प्रेमी, हिन्दी में प्रहसनों को लोकप्रिय बनाने वाले नाट्यकार जी० पी० श्रीवास्तव के हृदय में मातृभाषा के लिये कितनी अथाह भक्ति है और उसे विश्वसाहित्य में स्थान ही नहीं, प्रत्युत उच्च स्थान पर आसीन देखने के लिए कितनी आकांक्षा है और उसके लिये वे स्वयं किस प्रकार उद्योग कर रहे हैं, वह उनकी लेखनी की तिलमिलाहट में, जब कभी उसकी प्रवाह में धक्का लगा है, स्पष्ट रूप से प्रगट हो गया है।

देखिये 'भड़ामसिंह शर्मा' के ग्यारहवें परिच्छेद में भाषा सुधार-हित उनकी लेखनी की जोशीली फटकार—

"..........Art for art sake की हिन्दी में यह कदर? वाह बीबी नसीहत! कला की छाती पर चढ़ी हुई तुमने अच्छी धांधली मचा रखी है? लेखकों से अपने को पुजवाती हो। उनके लेखों को तौलने के लिए तराजू और बट्टा बनी हो। घबड़ाओ नहीं मैं आ गया। लेख छपे या न छपे परवाह नहीं। कदर के बदले अभी गालियाँ ही सही, मगर तेरी खैरियत नहीं है। क़लम के चाबुक से मैं तेरी सूरत बिगाड़ दूँगा। Art से रौंदवा डालूँगा। लेखों के पर्दे में छिपा

दूँगा। बस हो चुका। दरवाजों पर बहुत शोखी के साथ टहल चुका। पाठकों से खुल्लम खुल्ला बातें कर चुकी। चल, अन्दर चल। मैं किसी मुर्दादिल सम्पादक को खुश करने के लिए तेरी खुशामद न करूँगा।"

इस परिच्छेद में श्रीवास्तवजी ने तत्कालीन साहित्य की दशा से परिचय कराते हुए सुधार के लिए बड़े अनमोल सुझाव प्रस्तुत किए हैं।

'हास्यरस' नामक पुस्तक में पटना कालेज साहित्य सम्मेलन के अवसर पर आपका सभापति के पद से दिया हुआ 'साहित्य का तमाशा' नामक भाषण भाषा सुधार के लिये एक दृढ़ और सच्ची पुकार है। इनके हृदय में अपनी भाषा के लिए कितनी ललक है यह निम्न अवतरण से स्पष्ट होता है—

"सबसे पहले मैं आपलोगों का ध्यान भाषा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ क्योंकि यह साहित्य की पोशाक है। पोशाक वही अच्छी होती है जो अंग की शोभा बढ़ाये और उसकी फुर्ती और चाल में तनिक भी बाधा न डाले। मगर पोशाक की बलिहारी कि अंग की फुर्ती और खूबसूरती तो अलग रही, यही पता नहीं चलता कि उसके भीतर कोई आदमी है या लू लू। आजकल के कुछ साहित्यिकों ने साहित्य का गौरव इसी में समझ रखा है कि डेढ़ डेढ़ पसेरी के शब्द धड़ाधड़ ढकेलते जाओ चाहे स्वाभाविकता की खोपड़ी फूटे या भावों की नजाकत और विचारों की बारीकी का कचूमड़ निकल जाये, बला से। हमें तो लोग समझेंगे कि बहुत पढ़े लिखे हैं।......... सरल लिखते तो एक एक शब्द की तौल वा जाँच की जरूरत थी। शैली भड़कने का डर था कि कहीं बेमेल शब्दों के आ जाने से इसकी चाल न बिगड़ जाये। स्वाभाविकता अलग चिल्लाती—"हाँ हाँ यह शब्द इस स्थान पर चालू नहीं है।" प्रभाव दूर ही से दोहाई मचाता—

"ठहरो ठहरो मेरा सारा जोर ही नाश हुआ जा रहा है।" और तो और खुद अपने ही कान खड़े होकर नाक भौं सिकोड़ते—"यह क्या अन्धेर कर रहे हो ? जो बहार और ताजगी, जो शक्ति और प्रभाव सादगी और सरलता में है वह डेढ़ डेढ़ हाथ के बनावटी शब्दों में कहाँ ?"

"विचार तथा भावों की लहर के साथ जब भाषा भी बल खाती हुई बहती है तभी साहित्य का सौन्दर्य्य निखरता है। यह लोच भला पहाड़ ऐसे शब्दों में कहाँ सम्भव है जिन्हें अपना लोथ खुद ही भारी है।............"

"मातृभाषा कुछ दो चार पढ़े लिखों की बपौती जागीर नहीं है कि वे ही बोलें और वे ही समझें। मातृभाषा तो सम्पूर्ण जनता की है। जिस भाषा को हमारी जनता पूर्ण रूप से नहीं समझ पाती वह मातृभाषा कदापि नहीं कहला सकती।.... ...."

भाषा सम्बन्धी इन क्रान्तिकारी विचारों को सुनकर सभी अंग्रेजी पत्र फड़क उठे तथा सर्वविख्यात अंग्रेजी के धुरन्धर विद्वान स्व० श्री सच्चिदानन्द सिनहा इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इस भाषण का अंग्रेजी अनुवाद अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया था और इस विषय पर श्रीवास्तवजी से नाटक लिखने के लिये विशेष रूप से अनुरोध भी किया था। फलस्वरूप श्रीवास्तवजी ने 'साहित्य का सपूत" नामक भाषा सुधार समस्या पर अत्यन्त ही अनोखा और हास्यरस पूर्ण नाटक लिखा जिसका यहाँ पर पाठकों के विनोदार्थ कुछ झलक दिखला देना अनुचित न होगा। देखिए विषय इतना शुष्क होने पर भी श्रीवास्तवजी के हाथों द्वारा कितना रोचक, सरस तथा प्रभावपूर्ण हो गया है।

## साहित्य का सपूत

रचना काल १९३२। पहले यह बड़े नाटक के रूप में था जिसमें

साहित्य-संसार की सभी बुराइयों की खिल्ली उड़ाई गई थी। परन्तु अब नवीन संस्करण में सर्वसाधारण जनता की रुचि की दृष्टि से यह एकांकी के रूप में ढाला गया है। इसकी कहानी इस प्रकार चलती है—

भाषानन्दन साहित्य शिरोमणि बनने की धुन में अपनी स्वाभाविक भाषा का परित्याग कर पुस्तकीय कृत्रिम भाषा बोलने का उद्योग करते हैं और पत्नी सरला को भी ऐसा करने के लिये विवश करते हैं। इस उद्योग में स्वाभाविक और बनावटी भाषा की भिड़न्त इनको 'न घर का न घाट का' बनाती हुई किताबी कहानियों की अस्वाभाविकता पर अपूर्व व्यंग वर्षा करती है—

भाषानन्दन--(हाथ में पुस्तक लिये हुए) "देखो जब मैं तुम्हें 'प्रिये' कहूँ तब तुम मुझे 'नाथ' कहो। जब 'प्राणप्यारी' कहूँ तब तुम 'प्राणेश्वर' कहो। क्योंकि तुम मेरी पत्नी हो। समझीं? अच्छा कहता हूँ 'प्राणप्यारी' अब तुम अपना वाला कहो। हाँ हाँ बोलो बोलो। उल्लू की तरह—उलूक—समान हाँ उल्लू के समान क्या अवलोकती हो?"

× × ×

सरला—"जो कुछ कहना हो आदमी की तरह कहो। नहीं अगर बेहूदा बकोगे तो—"

भाषानन्दन—"मैं बेहूदा बक रहा हूँ?"

सरला—"और नहीं तो क्या कर रहे हो? बुड्ढे हो गये और दिनदहाड़े 'प्राणप्यारी' कहने चले हैं। शर्म नहीं मालूम होती है? ऐसी मस्ती पर झाड़ू की मार। लड़की की शादी हो गयी होती तो अब तक दो चार बच्चों के नाना कहलाते। राम! राम!"

× × ×

सरला—"बस बस कह देती हूँ अच्छी बात न होगी।"

भाषानन्दन—"हाँ-हाँ! अच्छी बात तो तब होगी जब तू भी साहित्यिक भाषा बोलने लगेगी। क्योंकि मेरे ऐसे भाषानन्दन साहित्य सम्राट की पत्नी का ऐसी गड़बड़ बोली बोलना किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं है जिसे सुनकर मैं खुद ही शर्म से पानी पानी हो जाता हूँ—नहीं नहीं—मैं स्वयं ही लज्जा से जल-जल हो जाता हूँ।"

अब इनको अपनी योग्यतानुसार एक ऐसी नई पत्नी की चिन्ता होने लगी जो उच्च कोटि की लेखिका भी हो और सुन्दरता की देवी भी। इस उद्देश्य से एक पत्रिका निकालकर झट सम्पादक बन बैठे।

इनकी पुत्री चपला का प्रेमी संसारीनाथ अपने मित्र यदुनाथ, रमाकान्त के साथ इनके पास इसलिए आता है कि उसका विवाह चपला से सम्पन्न कर दिया जाये। भाषानन्दन विवाह के प्रस्ताव पर बहुत प्रसन्न होते हैं। समझते हैं कि यह बातचीत स्वयं उनके विवाह की बाबत है। मगर अन्त में यकायक दोनों के स्वप्न किस प्रकार टूटते हैं इसका आनन्द भाषानन्दन की बातों ही में लीजिये—

"अरे! यह क्या? मैं तो अपने पुनर्विवाह के बारे में बातचीत कर रहा हूँ और यह बदमाश बीच में कूद कर कहता है कि मैं आपकी पुत्री को प्यार करता हूँ। मेरे ही मुँह पर ऐसी धृष्टता? खड़ा तो रह पाजी कहीं का—"

यहाँ पर भ्रमपूर्ण बातों द्वारा नाटकीय आश्चर्य तथा हास्य उत्पन्न करने की युक्ति बड़ी ही मनोरञ्जक है।

अब संसारीनाथ चपला को अपना प्रेम प्रगट करने के लिये भाषानन्दन की पत्रिका में तिलोत्तमा के नाम से प्रेमपूर्ण लेख लिखना

प्रारम्भ करता है। तिलोत्तमा की ओर से भाषानन्दन के पत्रों का उत्तर संसारीनाथ का मित्र यदुनाथ देने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि भाषानन्दन तिलोत्तमा के लिये पागल हो जाते हैं।

तिलोत्तमा की ओर से भाषानन्दन दर्शनों के लिये हरा टीका लगाकर पार्क में बुलाये जाते हैं। वहाँ पर संसारीनाथ भी हरा टीका लगाकर पहुँचता है। उसे देखकर यह अपने चेहरे भर में हरा टीका लगा लेते हैं। परन्तु उनकी ओर कोई नहीं देखता। सब देखते हैं संसारीनाथ के हरे टीके की ओर। उसी को उसके मित्रगण तिलोत्तमा के सम्बन्धी बनकर बुला ले जाते हैं। यहाँ पर भाषानन्दन की परेशानी अत्यन्त ही हास्यजनक है और जब उन्हें ज्ञात होता है कि उन्हीं के धोखे में संसारीनाथ का विवाह तिलोत्तमा से पक्का हो गया है तो इनकी सम्पादकीय योग्यता बलबला उठती है। एक से एक स्वरचित बेतुकी कवितायें जो काव्य संसार पर व्यंग वर्षा करती हैं चिल्ला कर सुनाना प्रारम्भ करते हैं ताकि संसारीनाथ पर जो सम्पादक होने का भ्रम किया गया है उसे इनकी योग्यता अपनी धाक जमा कर मिटा दे। यहाँ पर इनका कविता के सम्बन्ध में यह कहना—"यदि कविता सभी के समझ में आ जाये तब उसके अर्थ गौरव का क्या महत्व रह जायेगा?" चटपटे व्यंग से परिपूर्ण है।

धाक तो जमी किन्तु तिलोत्तमा के सम्बन्धी विवाह के बचन से विमुख नहीं हो सके। तब इन्हें संसारीनाथ को मार डालने की चिन्ता सवार हुई।

संयोग से संसारीनाथ चपला से छिपकर मिलने आया। इन दोनों का प्रेमाभिनय मर्मस्पर्शी हुआ है। यह प्रेमलीला चपला की माता सरला देख लेती है। संसारीनाथ भागता है। किन्तु दूसरी ओर से भाषानन्दन को आते देखकर एक बड़ी सी बेंत की मेज़ के नीचे छिप

जाता है। भाषानन्दन भी, जब कमरे में आते हैं, तो किसी की आहट सुनते ही पुरस्कार मांगने वालों के डर के मारे उसी मेज़ के नीचे दूसरी ओर मुँह किये छिप जाते हैं। वैसे ही सरला आ पड़ती है और संसारीनाथ अपने सर पर मेज़ लिये भाग जाता है। भाषानन्दन अपने स्थान पर ज्यों के त्यों दुबके रह जाते हैं। यहां पर हास्यजनक अनोखी नाटकीय परिस्थिति से काम लिया गया है।

भाषानन्दन—( उठकर ) "तू है ? धत्तेरे की ! चल हट मैं तुझ ऐसी मूर्खा से वार्तालाप करना नहीं चाहता जिसे इतना भी ज्ञान नहीं कि सम्पादकीय कमरे में किस प्रकार अनुमति प्राप्त करके आना चाहिये।"

सरला—"और मुझे तुझ ऐसे ज्ञानी का मुँह तक देखना गवारा नहीं, जिसे इतनी तमीज नहीं कि कुर्सी पर बैठना चाहिये या दुम दबा-कर मेज़ के नीचे........"

भाषानन्दन—"अरे ! जा हम ऐसे उच्च सम्पादकगण लेख लेते समय चौकी के ऊपर विराजमान रहते हैं, परन्तु उसका पुरस्कार देते समय उसके नीचे दुबक जाते हैं। यह सम्पादकीय कला-कौशल तू क्या जाने ?"

× × ×

तिलोत्तमा को संसारीनाथ से छुटकारा दिलाने के लिये सरला का आग्रह मानकर भाषानन्दन चपला का विवाह संसारीनाथ से कर देते हैं और फिर खुशी-खुशी छिपकर तिलोत्तमा से अपना विवाह करने जाते हैं और तिलोत्तमा को देखते ही अपनी एक कविता झाड़ देते हैं—

"अवलोकन कर तव मुख प्रवाल,
द्रुत गति मञ्जु मनोहर मुखरित उद्वेलक तव चाल,
सिहर सिहर मन उठहिं उबाल ॥"

और अब तिलोत्तमा की योग्यता की परीक्षा के लिये उससे इसका उत्तर भी कविता में चाहते हैं। वह भी तुकी-बतुकी जवाब देती है—

"कुचलित केशानन्द तुरंग,
उच्चांडित, खल्लोलित, वेचित,
दौड़ रहे मन में मेरे।
आशा धनुष यथा बर बंचित,
नयन तरल ताड़े तेरे।
अरे! अरे! पगहीन भुजंग॥"

तिलोत्तमा तो अपनी परीक्षा में प्रथम श्रेणी में सफल हुई। अब इनकी परीक्षा लिये जाने की बारी आई।

तिलोत्तमा—[भाषानन्दन से] "क्षमा कीजियेगा। दासी साहित्यिक भाषा समझ नहीं सकती। इस हेतु उसे अपभ्रंश भाषा बोलनी पड़ती है। [दासी से] हाँ दासी इनकी उम्र मुझे कुछ ढली हुई मालूम पड़ती है। इसलिये इन्हें तनिक दौड़ाकर और उठा बैठाकर देख कि इनमें कुछ शक्ति है या नहीं।"

× × ×

भाषानन्दन—"बस बस बस! श्वास फूल गया! अरे बस कर!"

तिलोत्तमा—"अब देख इनके बाल नकली तो नहीं हैं। क्योंकि आज कल बहुत से बुड्ढे नक़ली बाल लगाकर जवान बन जाते हैं।

भाषानन्दन—"अरे! अरे! इतने जोर—उहुंक—बल से नहीं। सकल खोपड़ी चरचरा उठी।"

तिलोत्तमा—"दाँतों को भी देख ले। शायद पत्थर के बने हों।"

भाषानन्दन—"नहीं नहीं। मेरे दाँत असली—उहुंक—मौलिक हैं मौलिक। शपथ पूर्वक कहता हूँ।......अरे बाप रे बाप! मर गया! भाड़ में गई ऐसी परीक्षा।"



तिलोत्तमा—"अरे ! आप तो अभी से घबड़ाने लगे। अच्छा दासी जल्दी कर। कपड़े से उनका मुँह भी मलकर देख ले। कहीं पाउडर तो नहीं लगाये हुए हैं।"

[ मलने के बहाने पूरे चेहरे पर कालिख पोत दी जाती है। ]

भाषानन्दन—"अरे ! धीरे धीरे मल ! हाय हाय ! सम्पूर्ण मुख भभा उठा। अरे बोलो-बोलो अब तो मैं इस परीक्षा में सफल हुआ।"

( गुस्से में सरला का कुछ लोगों के साथ आना ]

.. तिलोत्तमा—"यह लीजिये आपके इम्तहान का नतीजा सुनाने आ गई।"

सरला—"आयँ ! इनके मुँह में कालिख क्यों लगाई जा रही है?"

दासी—"बुढ़ौती में शादी करने आये हैं इसीलिये।"

सरला—[ तिलोत्तमा की तरफ झपटती हुई ]—"और यह चुड़ैल कौन है ? क्या इसीसे यह शादी करने आये हैं ? खड़ी तो रह डाइन तेरे बालों में आग लगा दूँ।"

तिलोत्तमा—"यह लीजिये शौक से आग लगाइये। [ अपने सर से नकली बाल उतार कर देती है। ]

सरला—"अरे कौन टेसुआ ! मेरा नौकर ?

तिलोत्तमा—[ टेसू के रूप में ] हाँ सरकार !

---

# छठाँ परिच्छेद

## साहित्य का गौरव

हिन्दी साहित्य का गौरव चमकाने तथा उसे विश्व साहित्य में आदर का स्थान दिलाने के लिए जी० पी० श्रीवास्तव सम्पूर्ण हृदय से निरन्तर उद्योग करते आये हैं। इसके लिये उन्होंने निज ख्याति की रक्षा की कभी चिन्ता नहीं की और "जल में रह कर मगर से बैर" करने वाली कहावत पर सदैव चलते रहे हैं, क्योंकि लेखकों का प्रचार, आदर, सम्मान इत्यादि समालोचक, सम्पादक, तथा प्रकाशक के प्रोपेगन्डा और सहयोग पर बहुत कुछ निर्भर रहता है।

साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करते ही श्रीवास्तवजी ने देखा कि इन लोगों में जो साहित्य के कर्ताधर्ता हैं, कुछ ऐसे महापुरुष भी हैं जिसके अज्ञान, पाखण्ड, स्वार्थ तथा धूर्तता पर साहित्य का बलिदान हो रहा है। साहित्य की दुर्दशा साहित्य के इस पुजारी को सहन न हो सकी। बस हाथ धोकर श्रीवास्तवजी कटाक्ष का हन्टर लिये इनके पीछे पड़ गये। साहित्य सुधार निमित्त अनेकों वार्तारूपी कहानी और प्रहसनों द्वारा इनके ज्ञान को तौलने और करतूतों का भंडाफोड़ करते हुए इनकी पूजा करने लगे। फिर सन् १९२० में इन सभी लेखों को इस कौशल से जोड़ कर "मरदानी-औरत" नामक नाटक तैयार कर दिया कि इनकी उपज और कल्पना के चमत्कार पर बस दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है।

यह साहित्य सुधार पर एक अपूर्व और विचित्र नाटक है। इसमें पत्र तथा पुस्तक प्रकाशन संसार के समस्त छीछालेदर दर्शाते हुए साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी चरित्रों पर तीव्र कटाक्षों की भरमार है। श्रीवास्तवजी की दृष्टि अत्यन्त पैनी है। वह किसी को नहीं छोड़ते।

उन्होंने साहित्य संसार को अच्छी तरह परखा है। मनुष्य स्वभाव का उनके पास अपरिमित ज्ञान है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इसमें कहीं-कहीं पात्रों की स्वभाव-गत दुर्बलतायें इतनी उभार कर दी है कि चरित्र अस्वाभाविक होकर कार्टून बन गये हैं। इसके लिये यह कह देना काफी है कि 'जैसी देवी वैसी पूजा।" यदि बातों से मान जाये तो फिर लात की देवी क्यों कहलाये और प्रहसन के हथियार ऐसे ही कार्टूननुमा चरित्र होते भी हैं जो मार-मार कर सुधार के लिये विवश करते हैं और साथ ही विचारशीलों को यह भी अनुभव कराते हैं कि सुधार के लिये लेखक का हृदय कितनी व्यग्रता के साथ तड़प रहा है।

अब इस नाटक में समालोचक, सम्पादक, कवि और लेखक की हुलिया देखिये।

## पक्षपातीलाल समालोचक

पक्षपाती लाल—"क्यों जी तुम नहीं जानते हम कौन हैं ? हम हैं पक्षपातीलाल मूर्खानन्द समालोचक। हम इसकी कसर अखबारों में निकाल लेंगे।"

टिकट कलक्टर—"चलो-चलो तुम्हारे ऐसे कडवे कार्य-कार्य किया ही करते हैं। इसकी परवाह कौन करता है ?"

गड़बड़—"क्यों जनाब क्या आप समालोचक हैं ?"

पक्ष०—"सूरत और ढांचा नहीं देखते हो ?"

गड़बड़—"हाँ देखता तो हूँ दुनिया भर के ऐबों से भरे मालूम होते हो ?"

पक्ष०—"तभी तो समालोचक हुए। जब तक अपने में ऐब न होंगे, दूसरों में क्या खाक ऐब निकालेंगे ?"

गड़बड़— "अच्छा आप ऐब ही ऐब देखते हैं और गुण ?"

पक्ष०— "गुण कैसे दिखाई पड़े जी ? गुण देखने वाली आँख तो फुड़वा डाली। ऐब वाली रख छोड़ी है। तभी तो काना हूँ।"

गड़बड़— "और यह चाल आपकी पैदायशी है ?"

पक्ष०— "नहीं पक्षपात की हवा चली थी। उसी में बदन में लकवा मार गया।"

## सम्पादक बन्टाधार

पेटूमल— "मगर पढ़े लिखों को तुम कैसे धोखा देते हो भाई ? तुम तो कुछ पढ़े लिखे नहीं हो. खत तक लिखना नहीं जानते।"

बन्टाधार— "तभी तो सम्पादक बन गये। लेखक बनते तो लेख लिखना पड़ता। कवि बनते तो कविता करनी पड़ती। और सम्पादक बनने में मजे में बैठे-बैठे तोन्द फुलानी पड़ती है। जब से सम्पादक बने तब से साढ़े सत्रह इंच तोंद हो गई है, चाहे नाप के देख लो।"

पेटूमल— "मगर लेखों को छांटने के लिये भी तो लियाकत चाहिये।"

बन्टाधार— "हम तो खाली शिक्षा की दुम टटोल कर जान लेते हैं कि कौन लेख उत्तम है और कौन नहीं।"

पेटूमल— "अगर किसी में दुम सिकुड़ी हुई हो तब तो लियाकत की कलई तुरन्त खुल जायेगी।"

बन्टाधार— "कदापि नहीं। इसी कारण तो हम लोग भरपूर यही चेष्टा करते हैं कि हमारा साहित्य नासमझ बच्चों और कम पढ़ी स्त्रियों ही के बीच में पड़ा रहे।"

## कवियों और लेखकों की पहचान

गड़बड़—"क्या कहा यह पहचानूँगा क्यों कर ? कवियों की खोपड़ी में आँख होती है जिससे वह सिवाय आसमान के किसी तरफ देख ही नहीं सकते । लेखकों की आँख पीछे होती है जिससे वह पीछे ही की बातें देखा करते हैं । सामने की चीज उन्हें कोई नजर नहीं आती ।"

× × ×

साहित्य सुधार पर केवल 'मरदानी-औरत' ही लिख कर श्रीवास्तव जी को सन्तोष नहीं हुआ । १९२४ में सम्पादक 'वर्तमान' के अनुरोध पर 'पत्र-पत्रिका सम्मेलन' तथा १९२५ में सम्पादक 'चान्द' के अनुरोध पर 'न घर का न घाट का' नामक एकांकी इसी विषय पर लिख डाली जो 'दुमदार-आदमी' नामक प्रहसनों के संग्रह में है । इनमें उन दिनों के पत्र पत्रिकाओं की बहार तथा हास्य को अनादर की दृष्टि से देखने वालों की मनोरंजक लीलायें दिखाते हुए साहित्य-सुधार का मन्त्र फूँका गया है ।

इनके अतिरिक्त लगभग १९२३ में 'गंगा जमुनी' की 'जुलियट' नामक कहानी पर जो 'गल्प माला' में निकल रही थी कुछ साहित्य-द्रोही झट्टले नन्द बिगड़ उठे । फिर तो श्रीवास्तवजी ने ऐसे महापुरुषों की पोल 'मोहनी' उर्फ 'झट्टलेनन्द' नामक रूपक में बुरी तरह खोलते हुए साहित्य का वास्तविक रूप कैसा होना चाहिये दर्शाया है ।

ऐसा एक दृष्टान्त फ्रान्सीसी साहित्य में 'मौलियर' के नाटक—"The school for wives" के सम्बन्ध में मिलता है जिस पर किये गये आक्षेपों के उत्तर में मौलियर ने दूसरा नाटक—"The school for wives Criticised" लिख मारा । परन्तु श्रीवास्तवजी

का यह रूपक व्यंग, कटाक्ष और उद्देश्य में उससे भी बहुत बढ़ा चढ़ा है और साहित्य सुधार पर अत्यन्त ही उच्चकोटि का और अपूर्व है।

यह रूपक 'गंगा जमुनी' के अन्त में है और विशेष रूप से साहित्यिकों के मार्ग प्रदर्शन की वस्तु है। इसलिये इसका सारांश यहाँ दिया जा रहा है ताकि पाठकों का कुछ मनोरंजन भी होता चले।

यह बता देना आवश्यक है कि 'गंगा जमुनी' प्रेम रस की मनोवैज्ञानिक रचना होने के कारण श्रीवास्तवजी अपने उपनाम 'पागल' के नाम से लिख रहे थे ताकि उनका असली नाम देख कर पाठक उसे भी कहीं हास्यरस की रचना न समझ बैठें।

आक्षेपों का उत्तर और उसमें साहित्य और साहित्य कला का मर्म बताना, योंही एक अत्यन्त ही शुष्क विषय है किन्तु श्रीवास्तवजी के हाथ से यह विषय भी इतना रसीला हो गया है कि उनकी कला को प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

## मोहनी उर्फ झड़ूलेनन्द

कथानक का निर्माण इस प्रकार हुआ है। 'गंगा जमुनी' का लेखक 'पागल' है जिसको दो पत्नियां हैं। (१) हास्यरस की लेखनी 'मतवाली' और ( २ ) प्रेमरस की लेखनी 'मोहनी'। झड़ूलेनन्द इसकी लान्छना करते हैं और यह धमकी देते हैं कि तू मोहनी को तुरन्त त्याग दे। अन्यथा तुझसे बरबस मोहनी छीन ली जायगी। तेरी मोहनी कलंकिनी है। गंगा जमुनी के घाट पर की गई उसकी रंगरेलियों से हमारी स्त्री समाजनी के भ्रष्ट होने की आशंका है।

इस सूचना से मतवाली आगबबूला हो जाती है। लाख रोकने पर भी झड़ूलेनन्द की हजामत बनाने के लिये निकल पड़ती है। मार्ग में साहित्य की पत्नी 'प्रकृति' मिलती है जो अपने पति के वियोग में तड़प रही है, क्योंकि झड़ूलेनन्द ने प्रकृति से अलग रखने के लिये 'साहित्य'

को कैद कर रक्खा है। अर्थात् ऐसे अज्ञानी समालोचकों के कारण साहित्य में प्राकृतिक सौन्दर्य और सभ्यता जो साहित्य का प्राण है आने नहीं पाती।

फिर तो ये दोनों परस्पर मिल कर झड़ूलेनन्द की अच्छी मरम्मत करती हैं। उस समय उन दोनों का यह गान अत्यन्त व्यंगपूर्ण बन कर झड़ूलेनन्द की खूब पोल खोलता है।

"किसे कहते हैं भाव, जरा इसको सुझाव।
कुछ रस भी चखाओ, है यह उल्लू गंवार।
गंगा जमुना में स्नान कर जोरू जवान,
मेरे काटे न कान, यही धड़का है यार॥"

मतवाली आकर सूचित करती है कि झड़ूलेनन्द की कुछ मरम्मत कर आई हूँ और कुछ अभी शेष है। 'पागल' उसे फिर रोकता है। मतवाली कहती है—'तुम्हारी प्यारी मोहनी की योग्यता और गुण ऐब समझे जायें और मैं आराम करूँ........तारीफ के बदले गालियाँ! 'भैंस के आगे बीन बजाये और भैंस बैठी पगुराय,—ऊपर से दो लातें भी लगाए, फिर भी मैं आराम करूँ?

पागल—"हाँ तुम दोनों को अब अपनी-अपनी खूबियाँ दिखाने की जरूरत नहीं, क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि हिन्दी संसार गुण ग्राहकों से एक दम शून्य है।"

मतवाली—"यह भी खबर है कि हमारे साहित्य को समाज ने कैद कर रखा है। उसे लहँगा और चूड़ियाँ पहना रखी हैं। कम से कम उसको छुड़ाने की मुझे आज्ञा दो।"

पागल—"उस ज़नाने को कम पढ़ी लिखी हुई मूर्ख औरतों में बन्दरिया की तरह नाचने दो। हिन्दी संसार यही चाहता है, मैं क्या करूँ?"

मतवाली—"स्वाभाविकता भी वहीं कैद है। उसका पति भाव बेचारा मजनू की तरह मारा-मारा गलियों में खाक उड़ाता फिरता है।...... जरा इशारा दो तो समाज को चुटकियों में उड़ा दूँ। दोनों कैदियों को छुड़ा दूँ।"

× × ×

ये व्यंग स्पष्ट रूप से चित्रित करते हैं कि झड़ूलेनन्दों की बदौलत हिन्दी साहित्य की कैसी दुर्दशा हो रही है। हमारा क्षेत्र कितना संकुचित हो गया है। जितनी भी पुस्तकें हैं, वे सब इसी दृष्टिकोण से लिखी जा रही हैं कि कम पढ़ी लिखी स्त्रियों ही के योग्य उपदेश पूर्ण हों। प्राकृतिक वास्तविकता, ज्ञानवर्द्धन, भावों की स्वाभाविकता की छूत न लगने पाये, जिससे समाज का भण्डाफोड़ न हो और न उनके ऐब सुधारे जायें।

अन्त में मतवाली और मोहनी के आग्रह से दोनों कैदियों को मुक्त करने को 'पागल' निकलता है। तत्पश्चात् मतवाली भी निकलती है और फिर मोहनी। तीनों पृथक-पृथक मार्गों पर हो रहते हैं।

मतवाली से पिट जाने पर झड़ूलेनन्द उससे बदला लेने की फिक्र में घूम रहा है। संयोग से नकटू से मुलाकात होती है, जिसने अपनी पत्नी की नाक काट रखी है ताकि वह पुरुषों की कुदृष्टि से सुरक्षित रहे। झड़ूलेनन्द को मतवाली से बदला लेने की तरकीब सूझ जाती है और कहता है कि भाई मुझे भी अपनी पत्नी को सचरित्रा रखने की बड़ी चिन्ता है इसलिए उसकी भी नाक तुम काट दो। उसके बाद अपनी स्त्री की पहचान के बदले मतवाली की पहचान ( घूँघट बड़ा लम्बा है ) बतला देता है।

अपनी पत्नी के आचरण भ्रष्ट होने का झड़ूलेनन्द को इतना भय है कि वह अपनी पत्नी के सामने सदा औरत ही की पोशाक में रहता

है जिससे उसकी पत्नी के मन में किसी प्रकार भी पुरुष संगति का विचार न उत्पन्न हो सके।

उसकी पत्नी अर्थात् समाजनी को खबर लग जाती है कि गंगा जमुनी के घाट पर पागल और मोहनी की रासलीला होती है। वह इसे देखने के लिए आग्रह करती है। अतः उसे जनानी पोशाक में साहित्य और समाजनी के साथ विवश होकर बाहर निकलना पड़ता है। मार्ग में मोहनी मिलती है। फिर मोहनी और समाजनी में अत्यन्त ही मार्मिक और मनोवैज्ञानिक बहस छिड़ जाती है जो हमारे साहित्य के लिये अपूर्व है। इस बहस में समाजनी को उत्साह दिलाने के लिये जब झड़ूलेनन्द साहित्य से शाबाशी देने को कहता है तब वह बेचारा केवल—क, ख, ग, घ, ही कह पाता है। इसके आगे कुछ जानता ही नहीं अर्थात् हमारा साहित्य ऐसे अज्ञानी समालोचकों के मारे प्रारम्भिक स्थिति से ऊँचा नहीं जाने पाता। इस कटाक्ष की तीव्रता अनुभव करने योग्य है।

उस बहस में समाजनी बेहोश होकर गिर पड़ती है। वैसे ही लम्बी घूँघट वाली की तलाश में नकटू आता है। दुर्भाग्य से लम्बे घूँघट में मिल जाते हैं झड़ूलेनन्द और वह चट उनकी नाक को सफाचट कर देता है। साहित्य और स्वाभाविकता दोनों ही मुक्त होकर प्रकृति और भाव से मिल जाते हैं। शिक्षा आकर सबके साथ मोहनी को शाबाशी देती है और नकटू झड़ूलेनन्द को सन्तोष देता है—'नाक गई तो गई। साहित्यिक आँख तो मिली।"

---

संक्षेप में श्रीवास्तवजी के व्यंगात्मक प्रहसनों में मौलिकता, नवीनता तथा सुधार के लिए दोषों की ओर संकेत करने की प्रबल शक्ति है।

लगभग १९२९ में साहित्य संसार की वास्तविकता जो 'भय्या

अकिल बहादुर' के उत्तरों में दिखलाई है उस पर हृदय स्वयं ही न्योछावर हो जाता है। इसी सिलसिले में उसकी भी झलक यहाँ पर दिखला देना अप्रासंगिक न होगा।

## भय्या अकिल बहादुर

वह—"हाँ हिन्दी संसार का आपके विचार में क्या अर्थ है ?"

मैं—( भय्या अकिल बहादुर ) "वह संसार जिसमें सब लेखक ही लेखक हों और ग्राहक एक भी नहीं।"

वह—"अच्छा ! हाँ लेखक के क्या मानी ?"

मैं—"बे पेट का जानवर।"

वह—"लेखक सम्राट कौन है ?"

मैं—"समालोचक का नातेदार।"

वह—"और समालोचक ?"

मैं—"हार्दिक ज्वर का रोगी।"

वह—"समालोचना किसे कहते हैं ?"

मैं—"अखबारों में गाली देने के ढंग को।"

वह—"उत्तम रचना कौन कहलाती है ?"

मैं—"वही जो सम्पादकों और प्रकाशकों को मुफ्त मिले।"

वह—"साहित्य किसे समझना चाहिये ?"

मैं—"जिसके पढ़ने को जी न चाहे।"

वह—"शिक्षा की पुस्तक ?"

मैं—"जो बिना छड़ी की मदद के पढ़ी न जा सके।"

वह—"नाटक ?"

मैं—"व्याख्यानों का संग्रह।"

वह—"और व्याख्यान ?"

मैं—"जिसके सुनते ही नींद आ जाये।"

वह—"कविता ?"
मैं—"जिसका अर्थ समझाने के लिये स्वयं कवि जी को बुलाना पड़े !"
वह—"भला साहित्यिक कहलाने का कौन अधिकारी है ?"
मैं—"वही जो भाषा का विस्तार देखकर संस्कृत में रोये।"
वह—"अच्छा शिष्ट हास्य पर आपके क्या विचार हैं ?"
मैं—"जिसके पढ़ते समय मुँह तो जरूर खुल जाये मगर हँसी में नहीं, जुम्हाई में।"

श्रीवास्तवजी की लेखनी में मनमोहक जादू, खरा ज्ञान, प्राकृतिक वास्तविकता, अलौकिक उपज, अपूर्व कल्पना, मनोवैज्ञानिक सत्यता है। उस पर उनकी चहकती हुई मुहावरेदार भाषा कैसी बहार दिखाती है। सम्पादक हिन्दी-पञ्च, साहित्य महारथी श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आलोचना में देखिये जो उन्होंने १२ दिसम्बर सन् ३४ के "आज" तथा "नवजीवन" में रेडियो पर श्रीवास्तवजी की एक कहानी सुनकर की—

"......मेरा मस्तक विशेषतः झुका श्रीवास्तवजी की रचना चातुरी के सामने। १० मिनट की हास्य कहानी में पचास से कम हँसोड़ अथ हँसोड़ मुहावरे न होंगे। श्रीवास्तवजी का कहने का ढंग खूब ही नहीं, निहायत खूब था........श्रीवास्तवजी की भाषा गया की गजक की तरह, भाव दिल्ली की चाट की तरह, सारी कहानी खान्दारी अनार रस के जिरवान की तरह चटपटी थी........"

---

# सातवाँ परिच्छेद

इस परिच्छेद में मैं श्रीवास्तवजी का एक पत्ररूपी निबन्ध "सौ सुनार को एक लोहार की" पाठकों के मनोरञ्जनार्थ उद्धृत करके इस भाग को समाप्त करता हूँ। यह उन्होंने समालोचक के नाम विशेष साहित्यक सम्मेलन में पढ़े जाने के लिये लिखा था। यह साहित्यिक दृष्टि से अपूर्व हास्य तथा व्यंगपूर्ण पत्र है। इसमें देखिये श्रीवास्तवजी ने कितने संक्षेप और कितनी सरल बोल चाल की भाषा में बताया है कि हास्य क्या है, उसका उद्देश्य क्या है और इसके लिये कैसी भाषा होनी चाहिये ? और हमारे यहाँ के समालोचकों के इसके प्रति कैसे अनोखे विचार हैं ?

---

## सौ सोनार की एक लोहार की

**जुग जुग जीयो मेरे खुर्पेंची राम !**

इन दिनों मुझे पत्र लिखने की कुछ ऐसी बीमारी हो गई है कि तुम्हारी भी खबर लेनी ही पड़ी। मैं जानता हूँ कि 'खबर' शब्द पर तुम भड़क उठोगे। मुँह बिचका कर सदा की भाँति यही कहोगे — 'राम ! राम ! यह शब्द तो मुसलमानी है।' कहते तो भाई सही हो। मगर क्या करूँ अपनी लेखनी को, कम्बख्त ऐसी चटोरी बन गई है कि न मैं हिन्दू रहा न मुसलमान, खाली मनुष्यता का पुजारी बन कर रह गया हूँ।

तुम्हारा यह ख्याल भी गलत नहीं कि मैं हिन्दी नहीं जानता। क्योंकि मेरे स्कूल और कालिज के दिनों में हिन्दी बेचारी आठवें ही दर्जे तक टिमटिमा कर बुझ जाती थी और उसकी किताबों में अब

मैं 'कहते हुए' को 'कहते भये' पढ़ता था जिसको मैं किसी के सामने जबान पर ला नहीं सकता था तब मैं किताब ही को फाड़कर फेंक देता था। ऐसी दशा में भला मुझे हिन्दी आती तो कैसे? हां थोड़ी भी संस्कृत अलबत्ता पढ़ी है। इसी में रो रो कर किसी तरह बी० ए० भी पास करना पड़ा था। क्योंकि नागरी अक्षरों की भाषाओं में तब कालिज में घुसने का केवल उसी में दम था।

इसको पढ़ते उस समय तो नानी मरती थी। मगर अब ईश्वर की कृपा से इसका पढ़ना बड़ा काम आ गया। क्योंकि इसी की मदद से तुम्हारी हिन्दी हिज्जे लगाकर कुछ न कुछ समझ लेता हूँ वर्ना बिना उसका अनुवाद कराये मेरे लिए करिया अच्छर थी। ऐसी हिन्दी को 'मातृभाषा' तो कहने का साहस नहीं कर पाता. कहो तो तुम्हारी खातिर इसे 'चाची-भाषा' कहकर इसका सत्कार करूँ।

अगर 'खबर' को 'सुधि' से बदल दूं तो तुम खुश होगे। मगर हमारे हास्य साहब का मिजाज बिगड़ जायेगा। उन्हें इस जगह 'सुधि' ऐसे सीधे सादे, भोले-भाले शब्द से कैसे सन्तोष हो सकता है जो बेचारा तीन पांच कुछ नहीं जानता। उन्हें तो 'विष कुम्भपयो मुख' वाले शब्द चाहिये जो आंसू भी पोंछे और बगल में छुरी भी मारे। शब्दों में यह करामात बोल चाल पर घिसते-घिसते पैदा होती है। किताबों में धरे धरे नहीं! ऐसे शब्दों का मजा लेना हो तो किसी दिन डेढ़ बजे रात को, अकेले सिनेमा देखकर घर लौटो। ईश्वर चाहेगा तबियत हरी हो जायगी और फिर नाई की भी जरूरत न पड़ेगी बशर्ते घर में घरवाली भी हो।

खैर! हास्य साहब का फिर भी उतना डर नहीं होता जितना उनकी मेम साहब मिसेज शैली का। वह एक-एक शब्द तौल तौल कर ऐसा परखती हैं जैसे नौकर के लाये हुए सौदेको घरवालियां। इसीलिये जब 'खबर' इस्तेमाल करना पड़ा तब उसी मेल के बोल चाल के और भी

शब्द लाने पड़े ताकि भाषा की धारा कहीं पर ठोकर न खा जाये। नहीं तो मिसेज शैली की जहां नाक भौं सिकुड़ी वहां तो उनके मिस्टर के प्राण सूखे। इसीलिए बेचारे हास्य साहब इस झगड़े में नहीं पड़ते कि कोई शब्द कहां पैदा हुआ है—देवलोक, मृतलोक या जहन्नुम में। वह तो सभी शब्दों को जिन्हें हमारी बोल चाल ने अपना रखा है, अपने बाप का माल समझ कर हिन्दी के लिए गटागट हजम करते जाते हैं। उन्हें अपना समझो या पराया यह काम तो तुम्हारा है। मगर किसी हास्य लेख पर अपनी समझ का भण्डा फोड़ने के पहले इतना तो देख लिया करो कि जिन शब्दों पर तुम्हारी पवित्रता बिचकती है उनके स्थान पर तुम्हारी भाषा का कोई शब्द काम भी देता है या नहीं। दूर कहां जाते हो. यहीं देख लो—जो जहन्नुम में झुँझलाहट का मजा है वह 'नर्क' में कहां ?

तुम तो आस्मान ताकते हुए चलने के आदी हो। तुम किसी हास्य लेखक की मुसीबत को क्या जानो जिस बेचारे को गड्ढा पाटने के लिए जमीन पर रेंगना पड़ता है और साथ ही साथ तुम्हें हँसाना भी ? हंसने को तो जी भर हँस लेते हो मगर जमीन का नाम सुनते ही दूसरों के सामने ऐसा कानों पर हाथ धरते हो मानो तुम सचमुच देवलोक में पैदा हुए हो। क्या करो ? तुम्हें तो अपनी पण्डिताई बघारनी है और मुझे मर मर कर तुम्हें सुधारना। चाहे फूहड़ कहो या गंवार। यह तो तुम्हारा आशीर्वाद है।

आदर्श चरित्रों के पीछे तुम कुछ ऐसे अन्धे हो रहे हो कि तुम स्वयं अपने को नहीं देख पाते। तब तुम्हें हास्य चरित्रों की खूबियां और बारीकियां कैसे दिखाई पड़ सकती हैं ? हिन्दुस्तान की मिट्टी पलीद की पाकिस्तान बनाने वालों ने और तुम चले हो अब हास्य की नाक काटने शिष्ट हास्य का पाकिस्तान बनाकर। यह तो अपनी श्रेष्ठता, अपनी उच्चता का डंका पीटने के लिए हास्य का बलिदान करना है।

शिष्ट हास्य है क्या, किस चिड़िया का नाम है, जरा इसका नमूना भी तो दिखलाओ। नहीं तो हमारे 'भैय्या अकिल बहादुर' के कथनानुसार—'शिष्ट हास्य वह है जिसके पढ़ते समय मुंह तो जरूर खुल जाए मगर हँसी में नहीं जम्हाई में।' ऐसा हास्य जिसे पढ़कर हंसी न आये तुम्हीं को मुबारक हो। या वह हास्य जिसको तुम ऐसे अनोखे बुद्धिवाले दो ही चार आदमी समझ सकें। उसको भी दूर ही से प्रणाम है।

अब अगर हास्य लेखक तुम्हारा ही मुंह देखा करे तब उसकी रचनाओं को कौन पूछेगा? तुम तो लाला फोकटमल हो तुम्हें तो मुफ्त चाय चाहिये। शकर दूध पड़ा हो या न पड़ा हो तुम्हारी बला से। मगर जो टके खर्च करेगा वह तो आनन्द भी लेना चाहता है और लाभ भी उठाना। उसे तुम्हारी तरह सूखी हंसी से कब सन्तोष हो सकता है?

वह दिन भूल गये जब तुम एक बच्चे को डांट रहे थे कि— खबरदार 'बाप' का शब्द मत प्रयोग किया कर। इसके स्थान पर 'पिता जी' कहा कर क्योंकि यह शब्द गँवारू है।" वैसे ही तुम्हारी टांग फिसली और तुम लगे कफन फाड़के चिल्लाने—"हाय! बाप रे बाप मर गया!" उधर बच्चे ने भी शोर मचाया कि—"बाप को मारिये गोली वह तो गँवार है, पिता जी को पुकारिये पिता जी को।"

समालोचना में वाह-वाह भी करते हो और उसके साथ 'किन्तु और परन्तु' का भी क्या खूब खुड़पेच लगाते हो कि उसकी तो तारीफ हो ही नहीं सकती। उसके लिये हमारे हास्य साहब भी तुम्हारी पीठ ठोकते हैं। सचमुच उसमें वही मजा मिलता है जो एक पंडित जी की निम्न लिखित बातों में है—

पंडित जी एक भलेमानुस की कन्या के लिये वर ढूँढ़ने गये थे। खुश-खुश लौटकर लड़के के रूप और गुण का ऐसा बखान किया कि मन फड़क उठे। और समझ लिया कि लड़की के भाग्य से इतना

योग्य वर मिला है। इतने में किसी ने पूछा—"पण्डित जी भला उसमें कुछ 'किन्तु परन्तु' भी है। पण्डित जी ने कहा—"हां किन्तु परन्तु विषे तो सभी में कुछ न कुछ होता ही है।"

लोगों ने फिर पूछा—"तो आखिर इसमें क्या है?"

पण्डित जी बोले—"अरे ! केवल इतना ही कि उसके लिंग वचन कारक का कुछ पता नहीं है।"

"क्या ?"

"यही कि न वह पुल्लिंग है और न स्त्री लिंग !"

डरता हूँ कि कहीं तुम इसे भी अश्लील न कह दो। क्योंकि यह तुम्हारे दिमाग की खूबी है कि जहां न भी हो वहां भी तुम बिना अश्लीलता की भरमार किये मान ही नहीं सकते।

तुम्हें इसकी बड़ी शिकायत रहती है कि हास्य लेखों में कोई प्रभाव ही नहीं रहता। इसी को दूर करने के लिये यह पत्र लिखना पड़ा है। इसे पढ़कर देखो तो तुम्हारा दिल गालियां देने लगा या नहीं। इसी को कहते हैं 'भाई सौ सुनार की और एक लोहार की।' अच्छा अब एक गिलास पानी पी लो। आओ—'शेक हैण्ड।'

तुम्हारी दोलत्तियों का शिकार—

—जी० पी० श्रीवास्तव

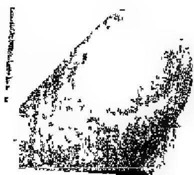
—:o:—

# द्वितीय खण्ड

# जी॰ पी॰ श्रीवास्तव

और

# उनकी जीवनगाथा



# पहला परिच्छेद

## साहित्य के बीज

### १. जन्म

श्रीवास्तवजी से मिलकर जब मैंने उनसे अपनी साहित्यिक जीवनी पर प्रकाश डालने के लिये अनुरोध किया तब उन्होंने मेरे प्रश्नों के उत्तर देते हुए इस प्रकार अपनी आत्म कथा सुनानी आरम्भ की जो यथा शक्ति उन्हीं के शब्दों में यहाँ पर देने का उद्योग किया जा रहा है।

"मेरे पिता श्री रघुनन्दन प्रसाद जी गोरखपुर में रेल के दफ्तर डी० टी० एस० आफिस में नौकर थे। मेरे नाना श्री रामसहाय लाल जी चित्रकार थे और राज हथुआ में ड्राइंग के अध्यापक थे, साथ ही नक्शा बनाने का भी काम करते थे। वह प्रायः गोरखपुर आया-जाया करते थे।

जब मैं लगभग साढ़े चार वर्ष का हुआ तब वह गोरखपुर आये और अंग्रेज़ी हिन्दी की वर्णमाला एक कापी पर रंगीन चित्रों की भाँति बनाकर मुझे दी। मैं उन्हें बड़े शौक़ से पढ़ने लगा। तीन दिन पश्चात् ही मुझे वर्णमाला का पूरा ज्ञान हो गया। नानाजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे कि अगली बार तुम्हें अपने साथ ले चलूँगा और वहीं स्कूल में प्रविष्ट कराकर अध्ययन कराऊँगा।

"इससे पूर्व पिता जी नाना जी के साथ छपरा नगर में रहते थे जहाँ मेरा जन्म २३ अप्रैल १८६० में हुआ था। मेरे पूर्वज पटना के रहने वाले थे। वहीं पूर्व पुरुषों का मकान मुहल्ला चौकशिकार पूर

में था मेरे पितामह श्री बुलाकी लाल जी वहाँ वकील थे जिनकी मृत्यु पिता जी के लड़कपन ही में अकस्मात होजाने के कारण पिता जी को अपने विवाह के पश्चात् तथा जीविका की खोज में नानाजी के समीप चला आना पड़ा, जो उस समय छपरा में नक़्शे का काम करते थे। नानाजी राज टिकारी (गया) के रहने वाले थे किन्तु जीविका के कारण उन्हें सदा प्रवास ही में रहना पड़ा।"

## २. बचपन के शौक़

अपनी पुस्तकों में श्रीवास्तवजी ने बचपन के चित्र बड़े सजीव, नटखट पूर्ण और बालोचित उच्छृंखलता से पूर्ण अंकित किये हैं। उनके बाल्य काल की मधुर स्मृतियों से परिचित होने की हमें बड़ी इच्छा थी। अतः अपने बचपन की याद ताजी करते हुए श्रीवास्तव जी ने कहा —

"मैं बचपन से ही सौन्दर्योपासक था। इसकी झलक लम्बी छड़ी की प्रथम कहानी 'निन्दी की दोस्ती' में तथा उपन्यास 'दिल जले की आह' के अलिन्द के जहाँनारा की सुन्दरता देखने के शौक़ में अनुमान किया जा सकता है। दूसरा शौक़ मुझे कहानी सुनने का था, जिसकी पूर्ती मेरी परनानीजी द्वारा होती थी। इस प्रकार भावना ने मेरे हृदय में और कल्पना ने मेरे मस्तिष्क में अपने अपने बीज बाल्यावस्था में ही बो दिये। लेखनी के भोजन के लिये पौधे तो लग गये किन्तु मेरे प्राणों को आफत आगई। क्योंकि हृदय अत्यन्त ही भावुक और मस्तिष्क विचारमय हो जाने से मैं सांसारिकता और व्यवहारिक जीवन ( Practical world ) के लिये नितान्त अयोग्य हो गया।"

## ३. स्कूल की पढ़ाई का आरम्भ

"इन्हीं दिनों पिता जी ने मुझे एक स्कूल में प्रविष्ट करा दिया।

स्लेट, तख्ती और किताब बड़े शौक से लेकर स्कूल गया था, किन्तु समीप वाली कक्षा में एक विद्यार्थी पर बेतों की मार पड़ते देखकर चट धोती खोलकर वहीं रख दी। ताकि दौड़ने में आसानी हो। मैं कक्षा मे बड़े जोरों से भागा और घर आकर ही दम लिया। तब से दिल मे कुछ ऐसा डर समा गया कि गोरखपुर के किसी स्कूल मे मैं जा न सका। जब सात साल का हुआ तो नानाजी मुझे अपने साथ ले जाकर बिहार प्रान्त के हथुआराज के स्कूल में प्रविष्ट करा दिया।

राज्य से जो मकान प्राप्त हुआ था वह मर्दाना था। उसमें नानी जी नहीं रह सकती थीं। अतः पड़ोस ही में एक किराये के मकान मे नाना जी नानाजी के साथ रहते थे और मैं मरदाने मकान के एक कमरे में जगेश्वर नामक नौकर के साथ रहता था। दूसरा कमरा दो ऊँचे दर्जे के छात्रों को नाना जी ने दे रखा था इसलिए कि वह लोग मेरी पढ़ाई की देख रेख करें किन्तु उनलोगों ने इसकी कभी परवाह नहीं की। मेरा अध्ययन केवल ईश्वर के अनुग्रह पर ही चलता रहा। मुझे हर्ष इस बात का था कि हथुआ आकर मुझे फारसी की किताबें 'करीमा' 'मामकीमा' और खालिक बारी' से मुक्ति प्राप्त हुई जो उन दिनों लगभग सबको पढ़ना पड़ता था और जिनके कारण मेरे दो वर्ष व्यर्थ नष्ट हो गये और पल्ले खाक भी न आयी। उसका उल्लेख मैंने "लम्बी दाढ़ी" की मौलवी साहब नामक कहानी में किया है।

"कक्षा में सब से अल्प आयु और निर्बल होने के कारण में खेल कूद से दूर रखा गया। नानाजी ने छोटा सा रंगीन बैट बनवा दिया था और एक रबड़ का गेंद भी मँगवा दिया था। उसीसे मैं कभी-कभी अकेले खेला करता था। क्योंकि पड़ोस में मेरी आयु का कोई साथी नहीं था। बाल्यावस्था में ही इस प्रकार खेल कूद से मन उचट

जाने से मेरी रुचि इस ओर बाद में न जा सकी और मैं सदा कमजोर ही बना रहा।"

"हथुआ के एक निकटवर्ती गाँव में एक नाटक मण्डली आई, मेरे साथ रहने वाले लड़के नित्य ही नाटक देखने जाने लगे। एक दिन मैं भी अपने नौकर के साथ नानाजी से छुपके नाटक देखने गया। वह मुझे इतना अच्छा प्रतीत हुआ कि नाटक देखने का मुझमें एक नवीन शौक उत्पन्न हुआ। किन्तु वहाँ से आते समय जब जूता ढूँढने लगा तो देखा कि गायब है।

"हथुआ में मेरा कहानी सुनने का शौक खूब पूरा होता था क्योंकि जगेश्वर कहानियों का भण्डार था। वह नित्य ही एक न एक कहानी मुझे सुनाया करता था जिससे मेरी कल्पना का उत्तरोत्तर तीव्र विकास होता गया। दीर्घकालीन छुट्टियों में मैं प्रायः नानाजी के साथ गोरखपुर आया करता था।"

"लगभग तीन वर्ष पश्चात् रेल का दफ्तर डी० टी० एस० आफिस का एक विभाग गोंडा में चला आया जिसमें एस्टैबलिशमेन्ट क्लर्क होकर पिताजी को भी गोंडा आना पड़ा। मेरे छोटे भाई यमुना की मृत्यु के उपरान्त मेरी एक बहिन सहोद्रा का जन्म हुआ। तत्पश्चात् मेरे कनिष्ठ भ्राता श्री भगवती प्रसाद जो बी० पी० सिनहा के नाम से उत्तर प्रदेश के प्रायः सभी अंग्रेजी तथा हिन्दी पत्रों के पत्रकार हैं जन्म हुआ। इसके कुछ दिनों बाद जब मैं गोंडा आया तो पिताजी ने मुझे गोंडा के सरकारी हाई स्कूल में भर्ती करा दिया।

"पटना से सम्पर्क छूट जाने के कारण पिताजी गोंडा में ही बस जाने के लिये वहाँ मकान बनवाने लगे। अभी मकान का कुछ ही भाग बन सका था कि उनका स्थानान्तर समस्तीपुर ( तिरहुत प्रान्त ) के डी० टी० एस० आफिस में हो गया। ऐसी परिस्थिति में बनते हुए

मकान तथा मेरी देख-रेख के लिए पिताजी ने नानाजी को इथुआ से बुलवा लिया।"

## ४. निरीक्षण शक्ति का विकास

"गोंडा के स्कूल में मुझे उर्दू और अङ्कगणित में बड़ी कठिनाई पड़ी, क्योंकि बिहार प्रान्त से यह दोनों विषय इधर बहुत कठिन थे। इन सभी से बढ़कर कठिनाई मुझे अपनी बोल चाल में हुई। जरा मुँह खोला नहीं कि सहपाठी गण ताली पीट देते थे। क्योंकि मेरे वाक्यों में बिहार प्रान्त में अब तक रहने के कारण सभी क्रियायें पुल्लिंग हुआ करती थीं। इसलिए यहाँ आकर मैं बोलता बहुत कम था। जब मुझे विश्वास हो जाता था कि मेरे प्रयोग करनेवाली क्रिया सही है तभी मैं मुँह खोलता था। अन्यथा मैं दूसरों की ही बातें सुना करता था।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की बातचीत पर ध्यान देने की आदत पड़ गई और मैं यह जानने लगा कि किस प्रकार के लोग किस तरह वार्तालाप करते हैं और कैसे कैसे शब्दों को प्रयोग करते हैं। इस आदत ने मुझे व्यवहार एवं बोलने में दब्बू तो बना दिया जिसके कारण मैं कभी वक्ता न हो सका तथा वकालत के लिए भी बहुत कुछ अयोग्य हो गया। मगर मेरी निरीक्षण शक्ति को उभार कर एकदम बांसों उछाल दिया और उसी के साथ लेखनी के लिये बोलचाल की भाषा में भी कुछ जानकारी करा दी। यही ज्ञान भविष्य में उपयुक्त शब्दों के चयन पर प्रायः घन्टों क्या कई-कई दिनों तक मुझसे माथा-पच्ची कराने लगा, जिसके कारण मैं तुरन्त लेख अन्य लेखकों की भांति सरासर नहीं लिख पाता।"

## ५. हिन्दी से प्रेम

"उन दिनों सातवीं कक्षा से इतिहास, भूगोल, और युकलिड का

अध्ययन अंग्रेजी के माध्यम से होता था। परीक्षाओं में उत्तर भी अंग्रेजी में ही देना पड़ता था। इस कारण छात्रों को अंग्रेजी भाषा समझने और लिखने का अभ्यास इसी कक्षा से प्रारम्भ हो जाता था। उस पर पिताजी समस्तीपुर जाकर मुझे बराबर अंग्रेजी में ही पत्र लिखते थे। मुझे उनका उत्तर भी अंग्रेजी में ही देना पड़ता था। उर्दू और हिसाब से मैं प्रायः घबड़ाता था। यहाँ हिन्दी और संस्कृत के अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी किसी कक्षा में एक तो किसी में दो थे। मेरी कक्षा में भी केवल दो ही विद्यार्थी हिन्दी के थे जिनमें से एक श्रीरामकृष्ण उपाध्याय संस्कृत अध्यापक के पुत्र और दूसरे श्री रमानाथ उपाध्याय उनके भतीजे थे। पंडितजी को शंका हुई कि यही रंग रहा तो हिन्दी और संस्कृत की कक्षा टूट जायगी। पंडितजी बोर्डिंग हाऊस के सुपरिनटेन्डेन्ट भी थे। बोर्डिंग हाऊस मेरे मकान के पास ही था और पंडितजी के पुत्र और भतीजे मेरे सहपाठी और घनिष्ठ मित्र थे। मैं नित्य ही उनके यहाँ जाया करता था। उन महानुभावों का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि आठवीं कक्षा में वार्षिक परीक्षा के जब कुछ मास शेष थे, मैं उर्दू के घन्टे में हिन्दी के दर्जे में आकर बैठ गया। मेरा अनुकरण कर कुछ अन्य विद्यार्थी भी आ गये। इसकी कुछ ऐसी हवा बँधी कि अन्य कक्षाओं से भी कुछ विद्यार्थी इसी प्रकार हिन्दी की कक्षा में पहुँच गये। यह चुनाव तो मैंने उर्दू में फेल हो जाने के डर से किया था, किन्तु थोड़े ही दिन पश्चात् साधारण हिन्दी सीख लेने के पश्चात् जब मैंने श्री देवकीनन्दन रचित "चन्द्रकान्ता" पढ़ी तो हिन्दी के प्रति मेरा चाव बढ़ा।

यों मुर्दा हिन्दी में प्राण फूँकने का श्रेय चाहे कोई किसी को दे, किन्तु मेरी दृष्टि में हिन्दी भाषा के प्रचार प्रसार और लोक प्रिय बनाने का कार्य आरम्भ में श्री देवकीनन्दन खत्री रचित 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति', 'भूतनाथ' इत्यादि पुस्तकों ने जितना किया है उतना शायद अन्य किसी भी लेखक की पुस्तक ने नहीं।

निःसंदेह भारतेन्दुजी ने उर्दू के रूप को हिन्दी खड़ी बोली के लिये सबसे पहले अपनाया था, किन्तु इस रूप में रोचकता की जान डालकर आकर्षण उत्पन्न करने का श्रेय मेरी दृष्टि में श्री देवकी नन्दन खत्री को ही है। हिन्दी भाषा के प्रचार की दृढ़ नींव इन्होंने रखे हैं।

'चन्द्रकान्ता' पढ़ते ही मुझे उपन्यासों का कुछ ऐसा चस्का पड़ गया कि जो कुछ जेब खर्च के पैसे पाता था सब उपन्यासों और वैज्ञानिक खिलौनों के खरीदने में लगा देता था।"

## ६. सुधार वृत्ति-की विद्युत

"छुट्टियों में मैं समस्तीपुर जाया करता था। पिताजी रेलवे के एक क्वार्टर में निवास करते थे जो नीले काँटों से घिरे हुए एक हाते के भीतर था। हाते में एक पानी का नल था। उस नल से जल लेने के लिये पथिक और पड़ोसी आया करते थे। एक दिन एक ऐसी घटना घटी जिसने मेरे जीवन की दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। एक गरीब लड़की नल से पानी पी रही थी। कई व्यक्ति वहां पानी की प्रतीक्षा में खड़े थे। उनमें एक मुसलमान लड़का भी था, जिसने पानी पीने की जल्दी में नल को पकड़ लिया। यकायक 'हल्ला मच गया कि लड़की मुसलमान हो गई क्योंकि उसने मुसलमान का छूआ नल का पानी पी लिया। उन दिनों छुआ-छूत का पाखण्ड इतना बढ़ा हुआ था कि न जाने कितने ही हिन्दू इस प्रकार जरा जरा सी बातों में मुसलमान हो जाने के लिये बाध्य किये जाते थे। इसी कारण सैकड़ो ही विलायत से लौटे हुए हिन्दू छात्रों को विवश होकर ईसाई हो जाना पड़ा था।

मैं अपनी खिड़की से नल का सब तमाशा देख रहा था और हिन्दू धर्म की सकुचिता पर पछता रहा था। हिन्दू दर्शकों ने लड़की को भागने न दिया। उलटे उसकी मां को बुला लाये और लगे कहने—"खबरदार! अब इस लड़की का छुआ पानी मत पीना;

नहीं तो तुम भी मुसलमान हो जाओगी। इसलिए खैरियत इसीमें है कि इसे अभी घर से निकाल दो।"

अभी मेरी आयु केवल १३ वर्ष की थी। सुधार वृत्ति की यकायक मुझमें विद्युत सी दौड़ गई। हिन्दू समाज का यह पाखण्ड और अंधविश्वास देखकर मेरा खून खौल उठा मैं गालियाँ देता हुआ कमरे से बाहर हुआ और घटनास्थल पर पहुँच कर गरज उठा.—'कौन सूअर का बच्चा कहता है कि इसने मुसलमान का छुआ पानी पिया है। मैं खिड़की से सब देख रहा था। जब यह लड़की पानी पी रही थी तब वह लड़का नल से गज भर के फासले पर वहां खड़ा था। जैसे ही पानी पी चुकी, वैसे ही वह पानी पीने लपका था कि यह कलसे वाले महाराज उस लड़के को हटाते हुए खुद आगे बढ़े थे। जब इनको पता चला कि कलसा लिये धोखे में लड़के को छू लेने से मेरे कलसे में छूत लग गई, तब अपना ऐब ढांकने के लिये यह झूठमूठ का कलंक उस बेचारी लड़की के सर मढ़ रहे हैं।

दर्शकों की अच्छी खासी भीड़ जमा हो गई थी। मेरा चिल्लाना सुनकर वह मुसलमान लड़का भी साहस करके आ गया और मेरा समर्थन करके अपनी सफाई देने लगा।

संयोग से कलसे वाले महाराज से उनकी उद्दण्डता के कारण सभी जले हुए थे। इसीलिये गिरोह के अधिकांश व्यक्ति मेरे पक्ष में हो गये। अन्त में यह निर्णय हुआ कि लड़की दो पैसे की जलेबी लाये और उसके हाथ से यदि हम जलेबी खालें तो विश्वास हो जायेगा कि लड़की पवित्र है। मैंने कहा "जलेबी महाराज के पैसे से ही आनी चाहिये।" इस प्रस्ताव को सभों ने स्वीकार किया।

माताजी बराबर मुझे भीतर बुलवा रही थीं। पिताजी का दफ्तर ५० ही कदम पर था। उनको बुलवाये जाने की धमकी दी जाती थी। मगर उस समय मुझ पर सुधार का भूत सवार था। मैं अपनी धुन के

आगे किसी की कुछ सुनता नहीं था। अन्तत: जलेबी आई और उसे मैंने उस लड़की के हाथ से खाई। इस प्रकार लड़की मुसलमान होने से बाल-बाल बच गई। महाराजजी दांत पीस के रह गये। उसी दिन से मैं इस पाखण्डी हिन्दू समाज का कट्टर विरोधी हो गया।

इस प्रकार मेरी बाल्यावस्था में ही सौन्दर्योपासना ने भाव, कहानी और उपन्यास ने कल्पना, कल्पना ने विचार, अपनी बातचीत की अशुद्धियाँ सुधारने के लिये दूसरों की बातचीत ध्यान से सुनने की आदत ने निरीक्षण शक्ति और लड़की वाली घटना ने मुझमें सुधार के बीज बो दिये।

---

# दूसरा परिच्छेद

## साहित्य साधना का आरम्भ

मेरा अगला प्रश्न था—"आपकी साहित्य साधना का प्रारम्भ कैसे और किन-किन परिस्थितियों में हुआ? इनमें किन-किन महानुभावों का प्रोत्साहन आपको प्राप्त हुआ?"

उत्तर में श्रीवास्तवजी ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया,—'पिताजी जब कभी मुझे उपन्यास पढ़ते देखते थे तब बहुत बिगड़ते थे। अतः मैं उनकी आँखें बचाकर प्रायः उपन्यास पढ़ता था। एकबार रविवार का दिन था। पिताजी घर पर ही थे। कहीं पढ़ने की सुविधा न पाकर मैं उपन्यास कुर्ते के नीचे छिपाकर गुसलखाने में चला गया। उसके पढ़ने में मैं कुछ ऐसा मस्त हो गया कि घन्टों वहीं बैठा रहा। जब मेरी खोज होने लगी तो घबड़ा कर बाहर निकला मगर घबड़ाहट में आँगन तक पहुँचते पहुँचते उपन्यास नीचे सरक कर गिर पड़ा। पिताजी ने देख लिया। खूब डाँट फटकार पड़ी। मुझे बताया गया कि उपन्यासों की कहानियों में अपना समय खराब करना अपना दिमाग खराब करना है, क्योंकि यह कहानियाँ झूठी और बे सर पैर की हुआ करती हैं। अब तक मैं उपन्यासों की कहानियों को बिलकुल यथार्थ समझता था। उस दिन जब ज्ञात हुआ कि यह सब मन गढ़न्त होती हैं तब मेरी कल्पना चौंक कर चहक पड़ी। मैं मन ही मन सोचने लगा,—"अरे! यदि यह बात है तब तो मैं भी एक से एक बढ़कर कहानी गढ़ सकता हूँ। मैं भी लेखक बन सकता हूँ। तब मैं भी कुछ क्यों न लिखूँ?" बस लेखक बनने की उत्कट कामना मुझमें उत्पन्न हो गई। उसी क्षण एक कमरे में दुबक कर मैं एक उपन्यास गढ़ने बैठ गया।

दो तीन दिन व्यतीत हुए। मेरा उपन्यास अभी आठ दस पृष्ठ का ही लिखा गया था कि पिताजी ने मुझे पुकारा,—"गंगू! क्या कर रहे हो?" मैंने बौखला कर कमरे से ही उत्तर दिया,—"बाबूजी, हिसाब लगा रहा हूँ। बहुत कठिन सवाल है।"

"लाओ देखें!"—पिताजी ने कहा।

मैं और भी घबड़ा उठा। मस्तक पर स्वेद-कण चमक आये। विकट परिस्थिति थी। आजकल की तरह उन दिनों छात्रों के पास बहुत सी कापियाँ नहीं होती थीं। एक अंग्रेजी अनुवाद की कापी और एक हिसाब की कापी में सारा झगड़ा समाप्त होता था। मेरा उपन्यास हिसाब की ही कापी में चल रहा था। घबड़ाहट में कुछ न सूझा तो कापी की सीवन ही तोड़ दी। उपन्यास के पृष्ठ जल्दी-जल्दी दरी के नीचे छिपा दिये। मैं अभी छिपा ही रहा था कि पिताजी पहुँच गये। मैं घबड़ा कर बोल उठा—"जी कापी की सीवन टूट गयी है। पन्ने ठीक करलू" तो प्रश्न दिखला दूँ। पिताजी चले गये तब मैंने उपन्यास के पृष्ठों को चुपके से बाहर ले जाकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये। यही मेरा प्रथम प्रयास था।"

## बंगला उपन्यासों के प्रतिरुचि

"छुट्टी समाप्त होने पर मैं गोंडा चला आया। जब नवीं कक्षा में पहुँचा, तो उसमें एक नवीन विद्यार्थी श्री शम्भूदयाल सिनहा, जिन्होंने बाद में मेरी जीवनी सबसे पहले लिखी जो "प्राणनाथ" के प्रथम संस्करण में उसके साथ प्रकाशित हुई थी, प्रविष्ट हुए। उनके पिता श्री ज्वालाप्रसाद 'वर्क' उर्दू के उच्चकोटि के उपन्यासकार और कवि थे। श्री शम्भूदयालजी को भी उपन्यास पढ़ने का बड़ा शौक था। धीरे धीरे उनसे मेरी घनिष्ठता हो गई। उन्होंने श्री बंकिमचन्द्र के कई बंगला उपन्यासों के अपने पिताजी के किये हुए उर्दू अनुवाद मुझे पढ़ने के लिये दिये। उनमें मुझे नई चीज मिली। चरित्र-

चित्रण तथा स्वाभाविकता की बहार पहली बार देखा, मुग्ध हो गया। हिन्दी के अब तक के पढ़े हुए सभी उपन्यास एकदम फीके पड़ गये। इनमें और उनमें मुझे आकाश पाताल का अन्तर दिखाई पड़ा। इसलिये मैं उस दिन से ढूँढ़ ढूँढ़ कर हिन्दी में वही उपन्यास और नाटक पढ़ने लगा, जो बंगला से अनुवादित होते थे। अब मुझे सन्तोष हुआ कि अच्छा हुआ कि मैंने पिताजी के भय से अपना प्रारम्भिक उपन्यास फाड़ डाला।

## हास्यरस का अध्ययन

मैंने श्रीवास्तवजी से आगे पूछा—"आपको हास्यरस की ओर कैसे रुचि हुई? इस प्रवृत्ति का कैसे विकास हुआ?"

इन प्रश्नों के उत्तर में श्रीवास्तवजी ने कहा—

"सन् १६०७ में गोंडा हाई स्कूल से इन्ट्रेन्स पास होकर हम और श्री शम्भूदयाल जी [जो अब एक बहुत ही सिद्ध महात्मा हैं] लखनऊ कैनिंग कालिज में आये। मेरी इनकी घनिष्ठता प्रगाढ़ होती गई। मैं वहाँ बादशाह बाग होस्टेल में रहता था और श्री शम्भूदयालजी वहाँ से लगभग दो मील की दूरी पर अपने निजी मकान भाउलाल के पुल पर रहते थे। मैं दूसरे तीसरे इनके यहाँ जाया करता था। इनके पिताजी उर्दू के नामी लेखक थे ही इसके अतिरिक्त उनके सम्बन्धी श्री पी० डी० सिनहा उर्दू "अवध-पञ्च" के हास्य लेखक थे। इन्हीं के सम्पर्क, सहयोग और प्रोत्साहन से मुझमें हास्य-रुचि का सञ्चार हुआ।

श्री शम्भूदयालजी 'अवध-पञ्च' की पुरानी फाइलों से उत्तम-उत्तम हास्य लेख चुन-चुन कर पढ़ने के लिये लाया करते थे, जिनका आनन्द हम दोनों अवकाश निकाल कर खूब लिया करते थे। इसका प्रभाव मुझपर विशेष रूप से पड़ा।

इसी बीच में श्री शम्भू दयालजी ने मुझे अपने पिताजी के पुस्तकालय से 'रेनाल्ड' कृत "मिस्ट्रीज़ आफ़ दी कोर्ट आफ़ लन्दन" नामक अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने को दिया। उसे पढ़ा तो उसकी रोचकता, विचित्रता, स्वाभाविकता तथा सजीवता देखकर मैं दंग हो गया। इसने बंगला से अनुवादित उपन्यासों को भी मेरी दृष्टि में फीका बना दिया। उस दिन से मैं अंग्रेजी उपन्यासों के पीछे पड़ गया और उनके 'टेकनीक' तथा कला पर विशेष ध्यान देने लगा। अब मुझे अनुभव हुआ कि अंग्रेजी पढ़ी-लिखी जनता हिन्दी उपन्यास, नाटक या कहानियों को इतने शौक़ से क्यों नहीं पढ़ती।"

## हिन्दी को अंग्रेजी जैसी बनाने का संकल्प

"होस्टल में मेरे कमरे के पास ही मेरे एक सहपाठी श्री जगत मोहनलाल 'रवाँ', जो मेरे साथ ही साथ कालिज में भरती हुए थे, रहते थे। ये बाद को उर्दू के उच्चकोटि के कवि हुए। मैं संस्कृत का विद्यार्थी था, फिर भी इनकी पद्य रचनाओं पर उर्दू वालों से बढ़कर मैं मुग्ध होता था। इसलिये साहित्यिक के नाते उनसे मेरी घनिष्ठता हो गई। मुझे वे मधुर दिन आज भी स्मरण हैं। जब छुट्टियों में हम दोनों साथ बैठ कर उर्दू की कविताओं, पं० रतननाथ 'सरशार' की "फिसाना आजाद", प्रेमचन्द की कहानियाँ और अन्य उर्दू की रचनाओं का आनन्द लेते थे। इस प्रकार शम्भूदयालजी और जगतमोहनलालजी की संगति में मेरी उर्दू साहित्य में कुछ पैठ हो चली। उन दिनों प्रेमचन्दजी अभी उर्दू में ही चमक रहे थे। हिन्दी में उनका जन्म नहीं हुआ था।

"रवाँ" साहब अपनी कविताएँ मुझे सुनाकर 'जमाना' आदि उर्दू के कई पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजने लगे और उन्हें पुरस्कार भी प्राप्त होने लगा। इनकी देखादेखी मैंने भी अपने लेख, कहानी हिन्दी

पत्रों में भेजने प्रारम्भ किये। तीन वर्ष के निरन्तर प्रयत्न पर भी अर्थात् १६१० तक मेरा कोई लेख कहीं भी प्रकाशित नहीं हुआ। उन दिनों उर्दू का रूप और व्याकरण तो हिन्दी हड़प कर चुकी थी, किन्तु उसे 'लेकिन' 'अगर' 'मगर' ऐसे नित्य प्रति व्यवहार में आनेवाले शब्दों से परहेज था और मैं इस बात पर तुला हुआ था कि जितने भी उर्दू शब्द हमारी बोलचाल में स्वाभाविक रूप से आ चुके हैं उनको अपना कर ही छोड़ूँगा। अन्यथा इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी कहीं भी नहीं बोली जाती। यदि बोली जाती है तो शहर और दफ्तरों में उर्दू और देहात और घरों में देहाती। यह कहना हिन्दी के लिये अपमान था। जो मैं किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकता था, क्योंकि मैं तो अपने को हिन्दी पर न्योछावर कर चुका था। हिन्दी को अंग्रेजी की भांति हर प्रकार से आदरणीय बनाने का दृढ संकल्प भी कर चुका था जिससे अंग्रेजी ने जो आलोचनात्मक रुचि अंग्रेजी पढ़ी जनता में उत्पन्न कर रखी है, उसके अनुकूल हिन्दी में सामग्री पाकर वे लोग भी हिन्दी का आदर करना सीखें। वस्तुतः मेरे लेख वापस होते रहे, किन्तु मैं अपने प्रण से न डिगा, प्रत्युत और दृढ़ता से अपने को अपने संकल्प की पूर्ति के योग्य बनाता गया।"

## शब्दों की छानबीन

"एक दिन जगतमोहनलालजी से बातों बातों में मैंने कहा,—"तुम्हारी कविता के लिये एक नया शीर्षक—"नालये नीम शबी" (आधी रात का विलाप) चुना है। पसन्द आये तो इस पर कविता लिखो। वह फड़क उठे और बड़ी लम्बी कविता इसपर उन्होंने लिखी। उसका एक शेर अब भी मुझे याद है—

> "किस्मत में हो जो इश्क तो बच्चा जवाँ न हो।
> पहलू में दिल न हो, तने-इन्साँ में जाँ न हो॥"

कविता जब पूर्ण हुई, तो उसे प्रकाशित करने से पूर्व वे पहिले अपने उस्ताद के पास ले गये, क्योंकि उन दिनों उर्दू में बिना किसी की शागिर्दी किये अपने को शायर कहलाने का कोई साहस नहीं कर सकता था। गुरु ने कविता पढ़ी, मुस्कुराये, शाबासी दी। फिर कहा,—बेटा अभी नातजुर्बेकार हो। अभी न तुमने इश्क किया, न काफी सदमे सहे हैं, न गलियों की खाक छानी है। एक उम्दा शायर होने के लिये इन मकतबों ( विद्यालय ) में पढ़ना जरूरी है। यह कहकर उस्ताद ने प्रत्येक पंक्ति में कुछ न कुछ काटकर संशोधन करना प्रारम्भ किया। उनके संशोधन पर मैं एकदम दंग होकर मन में कहने लगा कि यह अस्सी वर्ष के उस्ताद प्रेम और भाषा का कितना बड़ा ज्ञान रखते हैं। किसी शब्द को यह कहकर काटते कि यह शब्द अपने साथ वाले, शब्द से मेल नहीं खाता, या इस प्रकार के भाव के लिये उपयुक्त नहीं है। जरा और कोमलता या और सख्ती चाहिए या यहाँ पर किञ्चित भद्दा प्रतीत होता है, अथवा प्रेम और काव्य के स्तर को नीचे ला रहा है, या स्वाभाविकता और बोलचाल की भाषा पर इससे आँच आ रही है इत्यादि। भावों और शब्दों की इतनी कड़ी छानबीन की मैंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। बेशक भाषा ऐसी ही कड़ी छानबीन के बाद अपना चमत्कार दिखाने योग्य होती है।

यद्यपि यह छानबीन शायरी के लिये बतायी गयी थी, तथापि मेरे विचार में गद्य लेखक के लिये भी यह आवश्यकीय है। इसका मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उस दिन से मैंने यह छानबीन अपनी लेखनी के लिये बराबर जारी रखी। इसकी झलक हास्यजनक रूप में मेरी पुस्तक स्वामी चौखटानन्द' में दिखलाई गई है।"

## अनुवाद से साहित्य साधना का प्रारम्भ

मेरा अगले दिन का प्रश्न था,—"आपका साहित्यिक जीवन

कैसे किस रचना से प्रारम्भ हुआ और साहित्य साधना के लिये आपने आपनपूरा नाम छोड़कर जी० पी० श्रीवास्तव का नाम क्यों चुना ?"

उत्तर में श्रीवास्तवजी ने कहा—"जब मेरे कई लेख सम्पादकों के पास से वापस आ चुके, तो मनमें विचार हुआ कि कदाचित मेरे भाव और विचार हिन्दी संसार के लिये अभी उपयुक्त नहीं है। साहित्य जगत् में प्रवेश करने के लिये दूसरों के विचार का सहारा क्यों न लूँ? इस विचार से मैंने आर० सी० दत्त के अंग्रेजी उपन्यास The Lake of Palms का अनुवाद 'प्राणनाथ' के नाम से करना प्रारम्भ किया और लेखक के स्थान पर नाम रखा जी० पी० श्रीवास्तव का ताकि मेरे साहित्य साधना की बात गुप्त रहे, विशेष कर जगत मोहनलालजी से, क्योंकि मुझे शंका थी कि कहीं ये किसी बात पर हँस बिचका देंगे तो मेरा उत्साह सदा के लिये नष्ट हो जायेगा।

यों जगतमोहनलालजी मेरे ही स्वभाव के थे। मेरी उपज मौलिकता और भाव समझने की शक्ति पर लट्टू थे। यहां तक कि जब उन्होंने एक उर्दू पत्रिका में धारावाहिक रूप से एक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया, उसके दो परिच्छेद निकल चुके, किन्तु जब तीसरे परिच्छेद लिखने की बारी आई और उनके दिमाग ने एक दम जवाब दे दिया तब वह मेरे पास आये। ईश्वर की कृपा से उन दिनों मेरी कल्पना खूब बढ़ी-चढ़ी थी। मैंने थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण उपन्यास का कथानक बनाकर लिख दिया। उस दिन से मैंने अनुभव किया कि पूरी आत्मीयता होते हुए भी वह कभी-कभी मुझे प्रतिद्वन्दी की दृष्टि से देखते हैं। इसलिये मैं अपनी साधना चुपके-चुपके जी० पी० श्रीवास्तव के नाम से करता था ताकि भण्डा न फूटे। मैं कालिज में पहले केवल गंगाप्रसाद था, दो और गंगाप्रसाद आ गये। इसलिये विभिन्नता के लिये उन लोगों ने 'मेहरोत्रा' और 'शुक्ला' बढ़ाया तो मैंने भी अपने

नाम के आगे अपनी जातीयता का शब्द 'श्रीवास्तव' बढ़ाया। ऐसी ही परिस्थिति में पड़ कर मेरे छोटे भाई भगवती प्रसाद ने जो समस्तीपुर में पढ़ते थे अपने नाम के आगे अपने वंश वर्ग के अनुसार 'सिंह' लगाया जो अंग्रेजी में सिनहा पढ़ा जाने लगा। इस प्रकार हम दोनों भाइयों के नाम समान रूप के न हो सके और साहित्य क्षेत्र में मेरा नाम सदा जी० पी० श्रीवास्तव चलता रहा।"

---

# तीसरा परिच्छेद

## शरारती दुनिया में

इतनी आत्म-कथा सुनने के बाद मेरा कौतूहल निरन्तर बढ़ता गया। श्रीवास्तवजी का साहित्य कालिज, स्कूल, जीवन की मस्ती, 'बेफिक्री, कौतूहल और शरारतों का भण्डार है। उसमें अनेक स्थानों पर ऐसी ऐसी घटनायें और शरारतें मिलती हैं, जिन्हें सुनकर बरबस हँसी आती है। अतः मेरा अगला प्रश्न था—"आपने अपनी लोकप्रिय 'लम्बी-दाढ़ी' में कालिज जीवन जैसी मस्ती, हँसी और शरारतें अंकित की हैं वैसी सचमुच घटित होती थीं अथवा वे सब केवल कल्पना प्रसूत हैं?"

प्रश्न सुनकर श्रीवास्तवजी के मूड में परिवर्तन आ गया। नेत्र आलोचित क्रीड़ा में चमक उठे और एक मधुर मुसकान के साथ अपने जीवन के सबसे आकर्षक भाग की कहानी इस प्रकार आरम्भ की—

"होती क्यों न थीं। अब तक मैं केवल साहित्यिक दृष्टि से अपनी रामकहानी सुना रहा था। यदि शरारती दुनिया का वृत्तान्त सुनना चाहते हैं तो वह भी सुन लीजिए—

## विदूषक के रूप में

कालेज में पहुँचते ही मुझमें एक अजीब प्रकृति का संचार हुआ। मैं अत्यन्त हँसमुख, मिलनसार और लोकप्रिय हो गया। पढ़ाकू, खिलाड़ी, फैशनेबिल, सादे, शरारती, सीधे-सादे—सभी प्रकार के विद्यार्थियों से मैं ऐसा घुलमिल गया कि सभी मुझे अपनी-अपनी टोली का विशेष व्यक्ति समझने लगे और वहां मैं 'टाम' के नाम से मशहूर हो गया। शरारतें एक-से-एक बढ़कर होती थीं और उनमें 'टाम' का हाथ मुख्य होता था।

"पारसी थिएट्रिकल कम्पनी आनेवाली थी। उसका विज्ञापन एक दिन पूर्व से ही लखनऊ के अमीनाबाद में वितरित हो रहा था। मैंने कुछ इश्तहार तो मांग लिए, कुछ सड़कों पर गिरे हुए बटोरे और कुछ राह चलते व्यक्तियों से मांग लिए। इस प्रकार लगभग ४०–५० इश्तहार जमा कर लिए।

जाड़े की कड़कड़ाती ठिठुरनेवाली रात थी। आसमान बादलों से घिरा हुआ था। होस्टल आकर मैंने इश्तहारों पर लिखा—'विद्यार्थियों के लिए आधा टिकट' (स्टूडेंट्स हाफ रेट) और तारीख बदल दी। इसके बाद चूड़ीदार पाजामा पहना और उसके ऊपर पहना चौड़ी मोहरी का पाजामा, जिसकी एक मोहरी ऊपर चढ़ाकर बांध ली। इस प्रकार एक पैर में चूड़ीदार और दूसरे पैर में गरारेदार पाजामा हो गया। इसके बाद अचकन पहनी, मगर बटन पीछे की तरफ रखे। लाल रंग के कागज की एक नुकीली और लम्बी टोपी बनाई। काले रंग के कागज से लम्बी लटकती हुई मूँछे काटीं, जिसको गोंद से अपने मुँह पर चिपका लिया और लम्बी दाढ़ी काटकर ठोड़ी पर चिपकाया। लाल और हरे रंग के सितारे काटकर सारे चेहरे पर चिपकाए। इसके बाद इश्तहार लेकर लँगड़ाता हुआ होस्टल के बरामदे में टहलने और चिल्लाने लगा—'स्टूडेंट्स हाफ रेट, टु नाइट ओनली!' कोई मुझे पहचान न सका। सब इश्तहार पढ़ने में मग्न थे। पर्चा बांटकर मैं लम्बा पड़ा।

थोड़ी देर बाद जब मैं अपनी सूरत बदलकर असली हालत में लौटा तब होस्टल के तमाम कमरों में थिएटर जाने की तैयारी हो रही थी। मैं भी चुपचाप अपने कमरे में घुस गया और सबसे पहले तैयार होकर चलने की जल्दी मचा दी। 'मैं चलता हूँ तुम लोग देर कर रहे हो' कहकर मैं चल पड़ा। किसी का साथ करने के लिए रुका नहीं। अकेले ही रवाना हो गया। इधर-उधर घूमकर जब होस्टल लौटा तब देखा,

सभी लड़के थिएटर देखने चल चुके हैं। थिएटर गोलागंज में था, जो होस्टल से लगभग दो ढाई मील पर था। साढ़े दस बजे रात्रि से मूसलाधार पानी बरसने लगा। पांच मील का सफर कर बरसते पानी में छप-छप करते और गालियाँ देते लड़के वापस आए। मैंने जब उन्हें लौटते देखा तो बत्ती बुझा दी और स्वयं भी थिएटर-वालों को इस प्रकार गालियां देनी शुरू की—'अगर वह कम्बख्त क्लाउन ( विदूषक ) मिल जाता, जिसने जाड़े-पाले में ५ मील तक नाहक दौड़ाकर हमें लस्त-पस्त कर दिया तो कच्चा ही चबा जाता।'

जब बाद में पता लगा कि इश्तहार बांटनेवाला और कोई नहीं 'टाम' था, तब सारा होस्टल मुझे गालियां देने लगा, किन्तु कालेज बहुत प्रसन्न था और हमारे अंग्रेजी के प्रोफेसर श्री सी० जे० ब्राउन, जिन्होंने बाद में 'मार-मारकर हकीम' की भूमिका लिखी, इस घटना को सुनकर उछल पड़े।

## उल्लू-टाइप पति

"होस्टल में लगभग ६० विद्यार्थी थे, मगर संस्कृत के विद्यार्थी शायद दो या तीन थे और बस ये ही हिन्दी जाननेवाले थे। हिन्दी की पढ़ाई की समाप्ति आठवें दरजे में हो जाती थी। उसके बाद संस्कृत-अंग्रेजी चलती थी। मेरे दो मित्रों की नई-नई शादी हुई थी, मगर बेचारे हिन्दी न जानते थे। उनकी पत्नी का खत हिन्दी में आता था, मुझी को पढ़ना पड़ता था और जवाब भी मैं ही हिन्दी में लिखता था। मेरे उत्तर से मियां-बीबी दोनों फड़क उठते थे। एक दिन शरारत जो सूझी तो मैंने उनकी पत्नी को लिखा कुछ और और मियां को सुनाया कुछ। नतीजा यह हुआ कि दोनों बीबियों के यहां से पत्र आना एकदम बन्द हो गया। दोनों पति बेचारे पत्र की प्रतीक्षा में १०—१२ दिन तक एड़ियां रगड़ते और डाकिए की आहट पाकर जान देते रहे। जब सब्र न हो सका तब मेरे पास दुखड़ा रोने आए।

मैंने एक से कहा—'क्या करोगे, औरतें तुम जैसे फेशनेबिल जेन्टिलमैनों को कभी पसन्द नहीं करतीं। ये कमबख्त हमेशा उल्लूटाइप के नालायक मर्दों पर जान देती हैं। मैंने तो उसके पत्रों से पहले ही भाप लिया था कि वह तुम्हारे पास टिक नहीं सकती। किसी असियारे-बसियारे के साथ भागेगी जरूर। आखिर वही हुआ।' सुनकर पति महाशय बिगड़कर चले गए।

दूसरे पतिदेव जब शिकायत लेकर पहुँचे तब मैंने कहा—'यार, उसके खतों से तपेदिक के लक्षण टपकते थे। पत्र नहीं आया, कोई ताज्जुब नहीं कि मर गई हो।'

उसी दिन दोनों अपने-अपने घर भाग गए। मगर जब लौटकर आए तब मुझे उन लोगों से उतनी ही दूर रहना पड़ा, जितना किसी पागल कुत्ते से। खैर यह देखकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ कि उन दोनों ने एक सप्ताह की सख्त मेहनत से हिन्दी लिखना-पढ़ना सीख लिया।"

## बाबू चुप्पीनाथ

"बी० ए० कक्षा में हमारे साथ एक बाबू चुप्पीनाथ थे। फिलासफी में कैमरन साहब के लेक्चर का एक-एक शब्द वह नोट कर लेते थे। बी० ए० प्रथम वर्ष में मेरे पास फिलासफी की एक भी किताब न थी, फिर भी मेरे उत्तरों की मौलिकता पर प्रसन्न होकर कैमरन साहब ने मुझे परीक्षा में प्रथम स्थान दिया था। मेरे मित्र त्रिलोकीनाथ ने मुझसे कहा कि कोई ऐसी तरकीब करो कि चुप्पीराम आज के लेक्चर का एक शब्द भी नोट न करने पाए।

फिलासफी के घंटे में हम दोनों चुप्पीनाथ के बगल में बैठे। सबने अर्कले की पुस्तक खोली; मैंने खोला मौलियर का नाटक-संग्रह। त्रिलोकीनाथ ने कहा—'टाम! तुम पढ़ते भी नहीं, फिर भी न जाने कैसे परीक्षा में फर्स्ट हो जाते हो?'

मैंने कहा—'साइकालाजी का मुझे उर्दू अनुवाद मिल गया था। उसीको उपन्यास की तरह पढ़ गया था। बस फर्स्ट हो गया। यही मैं इस साल भी करनेवाला हूँ, क्योंकि बर्कले का भी उर्दू अनुवाद* छप गया है। अभी उसकी एक प्रति नमूने के तौर पर राय की दूकान पर आई है। मैं कह आया हूँ कि कालेज से छुट्टी पाते ही दाम लेकर आऊँगा।'

अभी कैमरन साहब कक्षा में न आए थे। चुन्नीलाल चुपके से दरजे के बाहर हुए और बाइसिकल लेकर अमीनाबाद सरपट भागे। बीस मिनट बाद बेचारे हाँफते हुए लौटे, मगर दरजे में घुसने न पाए। घण्टा बजने पर मुझे दूसरे दरवाजे से भागकर दूसरे दरजे में जाना पड़ा।'

इसी तरह एक न एक शरारत हुआ करती थी।"

मेरे विशेष आग्रह पर उन्होंने अपनी इलाहाबाद की विचित्र यात्रा का इस प्रकार वर्णन किया—

## ७) रु० में नुमाइश देखी

"इलाहाबाद में पहले-पहल नुमाइश हुई थी। शायद १९१० की बात है। ७०) हों तो काम चल सकता था। एक दिन गंगाप्रसाद मेहरोत्रा मेरे पास आए और अन्य लड़कों के साथ मुझे भी नुमाइश में चलने को कहा। मैंने कहा कि मेरे पास मेस में देने के लिए सिर्फ ७) हैं। मैं भला कैसे जा सकता हूँ! उन्होंने कहा कि चलो तो सही, वहाँ जो कुछ जरूरत पड़ेगी, मैं दूँगा। कुम्भ के कारण भीड़ की कुछ न पूछिए। स्टेशन पर भीड़ के डर से कुछ व्यक्ति अपना टिकट पौने मूल्य में बेच रहे थे। मेहरोत्रा ने उनसे दो टिकट खरीद लिए।

---

* उन दिनों ऐसी पुस्तकों का अनुवाद नहीं हुआ करता था और बी० ए० के छात्रों के लिए हिन्दुस्तानी अनुवादों द्वारा किसी भी अंग्रेजी पुस्तक का मर्म समझना अत्यन्त ही उपहासजनक बात थी।

स्टेशन पर घुसना कठिन समस्या थी। दो टिकट-कलेक्टर सीढ़ियों के पुल पर अड़ंगा बने खड़े मुसाफिरों को रोक रहे थे। हम लोग किसी-न-किसी तरह टिकट कलेक्टर के समीप पहुंचे, जो मुसाफिरों को रोके हुए डांट-फटकार रहे थे और सौ-सौ खुशामदें करने पर भी आगे नहीं जाने देते थे। मैंने अपने साथियों से योजना कही। वे तैयार हो गए। एकाएक मैं जोरों से चिल्लाया—'अरे बाप रे बाप! यह कौन कम्बख्त धक्का दे रहा है?' ऐसा कहकर मैंने आगेवाले मुसाफिर को ढकेल दिया। यही कार्रवाई मेरे साथियों ने भी की। दोनों टिकट-कलेक्टर सीढ़ी पर चित्त गिरे। मुसाफिरों का रेला भद-भद करता हुआ एकदम प्लेटफार्म पर निकल गया।

हम लोग बेतहाशा इंजन तक दौड़े। पर गाड़ी ऐसी ठसाठस भरी थी कि तिल रखने को जगह न थी। उधर हम लोगों के पीछे कान्स्टेबिल दौड़ रहे थे। भीड़ ज्यादा होने के कारण पीछे मालगाड़ियां भी लगी हुई थीं। उनमें भी भीड़ ठसाठस भरी थी। आखिर एक अंधेरी मालगाड़ी में हम दोनों उचक गए। भीतर पैर टिकने को जगह न थी। किसी तरह घुसते खसकते हम दोनों एक कोने में दुबक गए।

गाड़ी छूटी तो मुझे बड़े जोरों का पेशाब लगा। गाड़ी स्टेशनों पर रुकती थी, मगर दरवाजे तक पहुंचना और मालगाड़ी से उतरकर पेशाब कर फिर चढ़ना असम्भव था। मगर मरता क्या न करता! घंटों कोशिशें करने पर किसी तरह दरवाजे तक पहुँचा। नीचे लटककर उतरने का प्रयत्न कर ही रहा था कि गाड़ी फिर छूट गई। अब मुझसे सब्र नहीं हो सका। गाड़ी पर ही से अपनी शंका मिटाने लगा।

इतने में एक तीर्थयात्री चिल्ला उठा—'यह कौन भ्रष्टाचारी है जो इस तरह हम लोगों की पवित्र तीर्थयात्रा भ्रष्ट कर रहा है। ढकेल दो मुँह के बल, नीचे गिर जाए!'

मैं प्राण लेकर अपनी जगह भागा। अंधेरे में कुछ भी पता न

चला कि किसके सिर, पीठ या कंधे पर मेरा पैर पड़ता था। गजब हो गया। अभी तक भजन हो रहा था, अब एकाएक डिब्बे भर में गाली-गलौज और मारपीट शुरू हो गई, क्योंकि ऊँघे हुए मुसाफिरों ने, जिनपर मेरे पैर पड़े थे, यही समझा कि यह हरकत पासवाले मुसाफिरों ने की है।

सुबह जब प्रयाग पहुँचे, तब देखा कि मेरे कपड़े और हाथ पैर सब कोयले की बुकनी से काले हो गए थे, क्योंकि उस मालगाड़ी में पहले कभी कोयला भरा गया था। खर्चे के डर से न कुली किया और न कोई सवारी। अब समस्या पड़ी कि ठहरा कहाँ जाए। यों ही हम कायस्थ पाठशाला पहुंचे। वहां से नहा-धोकर नुमाइश देखने गए।

आने-जाने का टिकट साथ था ही। बजट में मेरे पास तीन या साढ़े तीन रुपए थे। उस दिन नुमाइश के प्रत्येक तमाशे का आधा टिकट था। दो-दो आने में जितने तमाशे देखे जा सकते थे, हम लोगों ने देखे। इसके बाद मेहरोत्रा कलकत्ते की मशहूर गौहरजान का नाच देखने ५) का टिकट लेकर गए। मैं अकेला जमुना जी की तरफ, जहाँ 'वाटर शूट' का तमाशा हो रहा था, भटकता हुआ चला गया। देखा, एक डोंगी मे पहिए लगे हुए हैं, जो ऊँचे किनारे से रेल की पटरियों पर जोरों से पानी में घुसकर एक सुरंग-सा बनाती है और फिर उस सुरंग में होकर दूर जाकर पानी के ऊपर निकलती है। उसमें बैठने के लिए ।।) का टिकट था। डोंगी में गोरे साहब और मेमें बैठती थीं। उनके डर के मारे कुछ हिन्दुस्तानी टिकट ले-लेकर संकोच में पड़े थे। मैंने एक सेठजी से कहा—'टिकट खराब करने से क्या फायदा, लाइए मुझे दीजिए मैं ही आपके बदले बैठ जाऊँ।' गोरों ने मुझपर तीखी निगाह डाली और आगे बैठने के लिए इशारा किया। क्योंकि आगेवाला आदमी बिलकुल भींग जाता

था। मेरे ठीक पीछे एक मेम बैठी और उसके दाहिने-बाएँ एक-एक गोरे। सबसे पीछे और गोरे बैठे। डोंगी छूटते ही मैंने एकाएक चित्त होकर अपना सिर मेम साहब की गोद में डाल दिया और मेम साहब चिल्लाकर मुझपर औंधी हो गईं। मेम साहब की पीठ भींग गई और मैं साफ बच गया। दर्शक हँस पड़े और सेठजी इतने खुश हुए कि शाम तक मुझे अपने दल से अलग होने नहीं दिया। इस तरह मेरा शाम का जलपान, चाय सब उन्हीं के मत्थे रहा।

दूसरे दिन वापसी रही। इञ्जन की खराबी से प्रयाग से शाम को गाड़ी चली और प्रतापगढ़ में १० बजे रात को एकदम रुक गई। हम भी वहीं उतर गए और दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगे। एकाएक मालूम हुआ कि एक गाड़ी आ रही है। हम बिना सोचे-समझे उसमें घुस पड़े क्योंकि सुबह लखनऊ पहुँचना जरूरी था। मेहरोत्रा के इम्तहान की फीस कल दी जानेवाली थी। मगर गाड़ी पहुंची फैजाबाद, टिकट था लखनऊ का। अब क्या करें? सुबह लखनऊ की गाड़ी मिली। लखनऊ के फाटक पर डरे कि अब जरूर पकड़े जायँगे। ईश्वर का नाम लेकर भीड़ में चले। फाटक पर पहुँचते ही सिर पीछे करके कहा—'चचा जान! हम दोनों के टिकट आपके पास हैं। टिकट बाबू को दे दीजिएगा। यह कहते हुए हम फाटक के बाहर हो गए। इस तरह ७) में भारत की सबसे बड़ी नुमाइश हम देख आए।"

---

# चौथा-परिच्छेद

## साहित्य के पौधे

दूसरे या तीसरे दिन की बैठक में मैंने श्रीवास्तवजी से अनुरोध किया कि आपने "प्राणनाथ" लिखने का हाल तो कहा, किन्तु इसके छपाने के विषय में कुछ सूचित नहीं किया। कृपया इस पर भी प्रकाश डालिये।

वह बोले —"प्राणनाथ" के दो भागों के अनुवाद करने के पश्चात जब तीसरे भाग की बारी आई, तो वह अत्यन्त शुष्क जान पड़ा। इधर मेरी कल्पना अलग नाक में दम कर रही थी कि मुझे भी चहकने का मौका दो यों तो कोई मुझे साहित्य संसार में प्रविष्ट न होने देगा। दूसरे के साथ लुक छिप कर कदाचित प्रविष्ट हो सकूँ। यह अभिलाषा इतनी बलवती हुई कि तीसरा भाग निज मन से ही गढ़ना प्रारम्भ कर दिया। किसी प्रकार पुस्तक समाप्त हुई, तो उसे बनारस के एक प्रकाशक के पास भेजा और वापसी के लिये उसमें पोस्टेज रख दिया। इसकी स्वीकृति के लिये देवताओं को प्रसाद भी माना, किन्तु विधि का विधान! रचना कुछ दिनों बाद इस नोट के साथ वापस आ गई कि इसमें विधवा विवाह है। मैं यह कह कर रह गया कि—"हाय! हिन्दी भाषा एवं साहित्य कितने पाखण्डियों के हाथों में जकड़ा हुआ है। इनके विचार कितने संकुचित और अन्धविश्वासों से भरे हुए हैं। ईश्वर कैसे इसका उद्धार होगा?"

इतना कहकर श्रीवास्तवजी चुप हो गये, किन्तु कुछ देर पश्चात् इस प्रकार कहने लगे —

"एक दिन कालिज के पुस्तकालय में विश्व-विख्यात फ्रेञ्च हास्य

सम्राट मौलियर के कुछ नाटकों का एक अंग्रेजी संग्रह प्राप्त हुआ। उसको पढ़ते ही ऐसा अनुभव हुआ कि जिस धन को ढूँढ रहा था वह पा गया।

उसी क्षण मैंने मौलियर को अपना गुरू मान लिया और उन्हीं के पद चिन्हों पर चलने का दृढ़ संकल्प करके जितने भी प्रकाशन मौलियर के नाटकों का अंग्रेजी में मिल सका सबको मँगवाकर अध्ययन करने लगा। मेरी हार्दिक कामना थी कि मौलियर के सब नाटकों और प्रहसनों को गुरूदक्षिणा के रूप में हिन्दुस्तानी बनाकर उनके नाम की धूम मचा दूँ। किन्तु प्रकाशकों की उदासीनता से बस थोड़े से नाटकों और प्रहसनों को अपना सका।

मेरे जीवन ने पंख फैलाये। १९१० में मेरा विवाह श्रीमती लक्ष्मी देवी के साथ बलरामपुर जिला गोंडा में हुआ। उसी वर्ष पास होकर मैं बी० ए० के प्रथम वर्ष में आ गया। हमें कैमरन साहब दर्शनशास्त्र और अंग्रेजी पढ़ाते थे।

यों तो जार्ज इलियट का उपन्यास और शेक्सपियर के कई नाटक जो कोर्स में थे मैं स्वयं पढ़ चुका था, किन्तु जब कैमरन साहब ने उनको पढ़ाते हुए उनके एक एक शब्द में साहित्य का चमत्कार दिखाना प्रारम्भ किया तब अलबत्ता मेरी साहित्यिक अन्तर्दृष्टि खुली। अब मैं समझ सका कि 'साहित्य' वास्तव में क्या है। नाटक तथा उपन्यास-साहित्य की कला, रहस्य, एवं मर्म की जितनी जानकारी मुझे कैमरन साहब के अध्यापन से हुई, उतनी तब तक नहीं हो सकी थी। ईश्वर को धन्यवाद दिया कि अच्छा हुआ अब तक मेरी कोई रचना प्रकाशित नहीं हुई।"

## 'इन्दुभूषण' नामक स्वर्णपदक

'इन्दु-भूषण' स्वर्णपदक द्वारा श्रीवास्तवजी सम्मानित किये गये।

यह घटना उनके साहित्यिक जीवन की प्रगति में अत्यन्त महत्वपूर्ण सोपान थी। इस सम्बन्ध में श्रीवास्तवजी ने कहा—

"सन् १९११ में मैंने काशी के 'इन्दु' नामक मासिक पत्र मे हास्यरस के लेखों की मांग का विज्ञापन और साथ ही साथ हास्यरस के लेखा पर 'इन्दु भूषण' नामक स्वर्णपदक के प्रदान किये जाने की घोषणा देखी। यह मेरे लिये उत्साह एवं नवप्रेरणा की प्रतीक थी।

फिर तो अर्धमौलिक 'विलायती उल्लू' नामक उपन्यास तथा 'लम्बीदाढ़ी' की कहानियां लिखनी आरम्भ कर दी। मेरा प्रथम लेख प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार जैसे चौंक पड़ा। उन्हीं दिनों साहित्य महारथी पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आरा से मासिक 'मनोरञ्जन' प्रकाशित किया। इसमें मौलियर के आधार पर रचित 'धोखाधड़ी' (जिसका नाम अब मिट्टी का शेर है) और फिर 'नाक में दम' की धारा प्रवाहित होने लगी। प्रयाग के 'स्त्रीदर्पण' में 'प्राणनाथ' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'मर्यादा' में एक अंग्रेजी कहानी का अनुवाद 'विदीर्ण हृदय' प्रकाशित हुआ। इस प्रकार यकायक मेरे नाम की हर तरफ धूम मच गई। अंग्रेजी पढ़ी जनता, जो उन दिनों उर्दू का दम भरती थी और हिन्दी को फूटी आंख से भी नहीं देखती थी, मेरे लेखों पर मुग्ध हुई। होस्टल में कई छात्रों ने केवल श्रीवास्तवजी के लेखों का आनन्द लेने के लिये हिन्दी पढ़ना सीखा और 'श्रीवास्तवजी' के लेखों के कारण होस्टल में 'इन्दु' और 'मासिक मनोरञ्जन' की बड़ी बेचैनी से प्रतीक्षा की जाती थी, किन्तु यह कोई नहीं जानता था कि 'श्रीवास्तवजी' उनका लोकप्रिय 'टाम' ही है। इसलिये जो लोग हिन्दी नहीं जानते थे वे 'श्रीवास्तवजी' के लेखों को पढ़कर सुनाने के लिये मुझे ही घेरते थे। तब मुझे भी उनके साथ लेखक की कला और सूक्ष्म दृष्टि की प्रशंसा करनी पड़ती थी।"

## नाटक सम्बन्धी अनुभव

नाटक* का प्रसंग उठने पर श्रीवास्तवजी ने अपने नाटक सम्बन्धी अनुभवों पर इस प्रकार प्रकाश डाला—

'नाटक साहित्य में सबसे कठिन अंग होने के कारण इसकी जानकारी प्रत्येक साहित्यकार के लिए आवश्यकीय है। इसके बिना वह साहित्यिक नहीं हो सकता। इसलिये मैं इस विषय पर अब स्वयं ही आ रहा था, क्योंकि संयोग से इसी वर्ष जब मैं बी० ए० के दूसरे वर्ष में था मेरे कालिज में पहले पहल नाटक खेलने का आयोजन हुआ।

इधर धीरे-धीरे मेरे नाम का भी भण्डा फूटा। जगत मोहनलाल जी भी जान गये कि जी० पी० श्रीवास्तव मैं ही हूँ। होस्टल में इस नाम की ऐसी धाक जमी थी कि उन्होंने अब इसके विरुद्ध कुछ कहना उचित नहीं समझा। फिर भी उन्होंने मेरी कहानियों में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई और न उनको पढ़वा कर सुनने की कोशिश की, क्योंकि हिन्दी अच्छी तरह न जानने के कारण उनको स्वयं पढ़ नहीं सकते थे।

'ब्राउन' साहब को, जो हमारे कालिज के प्रोफेसर और होस्टल के सुपरिन्टेन्डेन्ट भी थे, जब मेरे लेखक होने का हाल मालूम हुआ, वह मुझे विशेष आदर की दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने मुझे अंग्रेजी की हास्य निबन्ध की एक किताब अध्ययन करने के लिये दी। वह नये नये विलायत से आये थे, हिन्दी समझ नहीं सकते थे। इसलिये विशेष रूप से उन्हीं के पढ़ने के लिये मैंने उस किताब के निबन्धों के ढंग पर एक निबन्ध Mr. Buncum on Lectures जो 'मीठी हंसी' के अन्त में है अंग्रेजी में लिखा और अपने कालिज की मासिक

* इसका विस्तृत विवरण तृतीय खण्ड में दिया गया है।

पत्रिका में प्रकाशित होने के लिये दिया जो उनके सम्पादन में निकलने वाली थी। वह उसे पढ़ कर बहुत खुश हुए। दूसरा लेख इस पत्रिका के लिये कहानी के रूप में अंग्रेजी में Mr. Samuel Saxon लिखा। इसे स्वयं दुबारा लिखकर इसकी भाषा में और भी लालित्य लाने के लिये ब्राऊन साहब ने इस कहानी को तत्क्षण प्रकाशित नहीं किया।

इस प्रकार लेखक होने के कारण मैं भी नाटक मण्डली में एक मुख्य सदस्य की भाँति सम्मिलित हुआ। नाटक का हास्य विभाग मेरे मत्थे डाला गया। उस समय तक मैंने नाटक के रूप में कोई अपनी रचना नहीं की थी। हाँ मोलियर के प्रहसन 'आँखों में धूल' 'धोखाधड़ी' 'नाक में दम' 'मारमार कर हकीम' को अपना चुका था और 'चाल बेढब' को अपना रहा था। सोचे हुए था कि इन्हीं मे से कोई प्रहसन मुख्य नाटक के साथ खेलूँगा, किन्तु 'रिहर्सल' की आँच में उनमें से एक भी प्रहसन खरे नहीं उतरे। अब जाना कि उनमें न दृश्यों का क्रम ठीक है और न वार्ता ही अभिनय योग्य है। कोई कोई वार्ता आरम्भ से अन्त तक समान भाव रखने के कारण रंगमञ्च पर बिलकुल फीकी प्रतीत होती थी। किसी में भाषण का रंग आ गया था और कोई कोई ऐसी थी जिसके कहने में ऐक्टर की बीच ही में साँस उखड़ जाती थी। बस मैंने सबमें दियासलाई दिखा दी, क्योंकि अब मुझे विश्वास हो गया कि बिना स्वयं अभिनय किये और रंगमंच की जानकारी प्राप्त किये सफल नाटक रचना मौलिक वा आधार पर बिल्कुल असम्भव है। जो नाटक सफलतापूर्वक अभिनय नहीं किया जा सकता उसे नाटक कहना नाटक के नाम का अपमान करना है। इसलिये इस नाटक के लिये अपने 'रिहर्सल' के अनुभव के अनुसार एक उर्दू हास्य कहानी के आधार पर मैंने एक छोटा सा प्रहसन लिखा।

रिहर्सल में प्रहसन गम्भीर नाटक से कई गुना अधिक आकर्षक और सफल प्रतीत हुआ। दुर्भाग्य से हमारे यहाँ सफलता प्रोत्साहन के जल से सींची नहीं जाती वरन् जलन की अग्नि से भस्म की जाती है। इसलिये हमारे ऐक्टरों को लोग भड़काने लगे। जिसको दो तीन दिन सिखा कर पक्का करता वही चौथे दिन गायब हो जाता। जब दो दिन नाटक के रह गये तो जो लड़का नायक का पार्ट कर रहा था वह भाग खड़ा हुआ। हमारे हाथ पॉव फूल गये। आखिर किसी न किसी तरह एक स्थानीय लड़के को इस पार्ट के लिये तैयार किया।

खेल शुरू हुआ। प्रहसन के प्रथम दृश्य में दो आदमियों का पार्ट था। जिसमें एक मैं था। मेरा बदन काँप रहा था। दिल धड़क रहा था। हमारा दृश्य आ गया। पैर सौ सौ मन के हो गये किसी प्रकार भी दृश्य में जाने के लिये उठ नहीं रहे थे। अन्त में प्राम्पटर* ने मुझे दृश्य में ढकेल दिया। ऐसा जान पड़ा कि हवाई जहाज से एकदम अथाह समुद्र में गिर गया। दर्शकों को देखकर मेरी हक्की बक्की बन्द हो गयी। मैं अपना पार्ट भूल गया। किंकर्तव्य मूढ़ की तरह बस आँखें फाड़ फाड़ कर देखता रहा। कई बार मेरे साथी ने जो पहले कहीं एकबार रंगमञ्च पर काम कर चुके थे मेरे चरित्र का नाम लेकर पुकारा तब जाकर मुझे होश हुआ और मेरी जबान खुली।

मैं समझा कि मेरे ही अभिनय के भद्दे पन के कारण मेरा प्रहसन चौपट हुआ मगर दृश्य के अन्त में जब 'इन्टरवेल' हुआ और कैमरन साहब और ब्राउन साहब और नगर के अन्य प्रतिष्ठित सज्जनों ने 'ग्रीन रूम' में आकर मुझे शाबाशी और बधाइयाँ दी तो मेरी जान मे जान आई। दृश्य में प्रवेश करते ही मेरा बौखला जाना अत्यन्त

* रङ्गमञ्च के किनारे आड़ में खड़े होकर एक्टरों को उनकी बातें बतानेवाले।

ही उच्च कोटि का अभिनय समझा गया। जिसके लिये मेरी प्रशंसा पर प्रशंसा हो रही थी। यह भाग्य की लीला है कि जब बात बननेवाली होती है तो अवगुण भी गुण के रूप में देखा जाता है। भाग्य ने ऐसा ही एक दूसरा चमत्कार भी उस दिन दिखाया।

जो लड़का नायिका बना हुआ था वह मुझसे भी ज्यादा घबड़ाया हुआ था। लोगों ने उसकी घबड़ाहट दूर करने के लिये शराब दी। फिर तो वह मेरी अनुपस्थिति में स्वयं ही बोतल से उड़ेल कर इतनी शराब पी गया कि वह रंगमञ्च पर जाने के लिये बिलकुल अयोग्य हो गया। लोगों ने कहा इसका पार्ट काट दो। मगर इस समय पार्ट काटना प्रहसन का सर काटना था। कलेजे पर हाथ धरे यही सोच रहा था कि क्या करूँ? इतने में उसका दृश्य आ गया और वह अपना गाना चिंघारते हुए झूमता और लड़खड़ाता रंगमञ्च में घुस गया। अब तो मेरी जान निकल गई। मैं चुल्लू भर पानी में डूब मरा। उस समय मैं मारे परेशानी के पागल हो गया। झट एक ऐक्टर के सर से रंगीन साफा उतार कर उसे जल्दी जल्दी अपने कुर्ते पाजामा के ऊपर साड़ी की तरह लपेटा और घूँघट निकाल कर यह कहता हुआ घुस गया—"अरी! वाह! री सखी मना करने पर भी आज फिर तुम शराब पीकर शोर मचाने लगी।" और फिर उसको अपना सहारा देकर मै न जाने क्या क्या बकता गया कि भाग्य की बलिहारी वह दृश्य समस्त खेल में सबसे उत्तम, स्वाभाविक और सफल हो गया। कहानी का सिलसिला भी किसी तरह बंध गया और नायिका को शराबी के नाट्य के लिये खूब बधाइयाँ भी मिली। इसको कहते हैं ईश्वर की देन।

इसी के साथ दर्शकों में भी एक ऐसा अनोखा तमाशा हो गया कि लोगों के हँसते हँसते पेट फूल गये।

जो लड़का नायिका का पार्ट कर रहा था उसके पिता भी संयोग से

नाटक देखने आये थे। उन्होंने जब रङ्गमञ्च पर अपने लड़के को स्त्री के रूप में देखा तो मारे गुस्से के उबल पड़े और तुरन्त खड़े होकर चिल्लाने लगे—"एक अन्डा और कम्बख्त वह भी गन्दा निकल गया। इत्तेरे की! ऐसे जनखे से तो बे औलाद ही भला!"

लोगों ने लाख लाख उन्हें रोकने का उद्योग किया मगर वह चिल्लाते और बड़बड़ाते हुए चले ही गये।

इस प्रकार मुझे नाटक सम्बन्धी बातों का अनुभव उस नाटक के अभिनय से हुआ। और उस साल लेखनी की सेवा में फँस जाने से मैं बी० ए० पास न कर सका।

—:०:—

# पाँचवाँ परिच्छेद

## वज्रपात पर वज्रपात

आगे का हाल पूछने पर यकायक श्रीवास्तवजी बहुत दुखित से प्रतीत हुए और ठंठी सांस भरकर यों कहने लगे,—"न जाने कितनी दौड़ धूप के बाद पिताजी ने मेरी छोटी बहिन सहोद्रा की शादी एक जगह तय की। तिलक भी चढ़ गया जिसमें काफी रुपये खर्च हुए। किन्तु बाद को लड़के वाले ने शादी करने से इनकार कर दिया। किसी लड़की की शादी लगकर उखड़ जाना कितना अपमानजनक होता है और फिर उस लड़की का अन्यत्र विवाह तय करने में कितनी कठिनाइयां पड़ती हैं उसी का दिल जानता है जिस पर यह मुसीबत पड़ी है। उसपर मेरे फेल हो जाने के रञ्ज से पिताजी और भी परेशान रहते थे। ऐसी दशा में मैं अपनी साहित्यिक सफलता का हाल उनको न बतला सका।

"आखिर सहोद्रा की शादी मई सन् १९१२ को हुई। किन्तु नन्हीं बहिन के चेचक निकल आने के कारण जिसमें उसकी मृत्यु भी हो गई सहोद्रा की बिदाई शादी में न हो सकी।

"अभी नन्हीं बच्ची की मृत्यु पर के आँसू पोंछे भी नहीं गये थे कि निर्दयी दुर्भाग्य ने उससे भी बढ़कर यह अनर्थ ढाया कि विवाह के केवल ढाई महीने बाद सहोद्रा को बाल विधवा बना दिया। इस वज्रपात का पिताजी के हृदय पर जितना भयङ्कर प्रभाव पड़ा वह कुछ ही दिनों बाद प्रकट हो गया।

× + ×

"लम्बीदाढ़ी" की कहानी "कालिजमैच" अपने लिखे जाने के

ठीक एक साल बाद इस प्रकार घटित हुई कि हमारे कालेज की टीम ब्राउन साहब के संरक्षण में दिल्ली मैच खेलने रवाना हुई और उसमें मुझे भी 'एक्सट्रा' के रूप में ब्राउन साहब की कृपा से जाना पड़ा।

मैं गया बड़े शौक़ से। अब मैंने दिल में ठान लिया था कि लेखनी के सहारे अपनी जीविका उपार्जन करूंगा। इसीके लिये मैं अपने को हर प्रकार से योग्य बनाना चाहता था जिसमें भ्रमण करना भी एक आवश्यक अंग था, किन्तु भाग्य में कुछ और ही लिखा था। दिल्ली से लौट कर जब टीम मेरठ पहुंची तो अकस्मात् मेरी तबियत इतनी सुस्त हो गई कि मै ११ बजे दिन तक चार पाई न छोड़ सका। इतने में कैमरन साहब का तार मिला—फौरन चले आओ। मामला संगीन है।

मैं घबड़ाया हुआ लखनऊ भागा। वहाँ केवल इतना ही ज्ञान हुआ कि समस्तीपुर से मेरे नाम और प्रिन्सिपल के नाम उसी आशय के दो तार आये हैं। कमरा खोला तो पिताजी का पत्र मिला। उसमें कोई चिन्ता की बात न थी। कुछ समझ में न आया क्या बात है।

तुरन्त समस्तीपुर के लिये रवाना हो गया। दूसरे दिन गाड़ी जब मुज़फ्फरपुर पहुंची तो वहां स्टेशन पर रेल के कर्मचारियों से मालूम हुआ कि २३ नवम्बर १८१२ को दफ्तर में काम करते हुए मेरे पिताजी की हृदय-गति बन्द हो गई और उनका स्वर्गवास होगया। मैं एक दम सन्नाटे में आगया। मुझे विश्वास न हुआ। अभी उनकी अवस्था कुल ४३ वर्ष की थी। हट्टे कट्टे पहलवानों सा सुगठित कसरती बदन था।

मगर खबर सच्च थी। मेरे सर पर यकायक-जैसे बज्र का पहाड़ फट पड़ा। पिताजी का वेतन छोड़ कर अन्य कोई आय का साधन न था। जगह ज़मींदारी न थी। बाल्यावस्था ही में पिताजी का सम्बन्ध पटना से पृथक होजाने से मैं अपने सम्बन्धियों से परिचित भी नहीं था।

उनकी मृत्यु के तीन दिन पश्चात मेरी सबसे छोटी बहिन योगिनी

का जन्म हुआ था। पिताजी के पास मेरे छोटे दस वर्षीय भाई भगवती प्रसाद सिनहा रहते थे। अतः उन्हीं को पिताजी का दाह कर्म करना पड़ा था।"

इस प्रसंग को वर्णन करते करते वयोवृद्ध साहित्य साधक के नेत्र अनायास ही सजल हो उठे। पुरानी दुखद स्मृतियां एक एक करके उनके हृदय-पटल पर ताज़ी होती गईं। रूमाल से नेत्र पोंछ कर उन्होंने आत्मकथा आगे प्रारम्भ की—

"उधर माता जी जच्चे खाने में और गोद में बच्ची, उधर विधवा बहिन गठिया से जकड़ी हुई उस पर परनानी अन्धी, भाई अबोध बालक, स्त्री अभी निरी बालिका और मैं संसार से अपरिचित एक अनुभव हीन छात्र। पिताजी के नाम डाकखाने में कुछ ३००) और लगभग तीन हज़ार रुपये प्राविडेन्ड फ़न्ड में थे। किन्तु यह बिना Succession Certificate प्राप्त किये अर्थात् बिना अदालती काररवाई किये मिल नहीं सकता था। २५ दिन का वेतन भी इसी कारण रोक लिया गया। घर में एक पैसा नहीं, चारो ओर अन्धकार! कैसे समुद्र के तूफ़ान जैसी कठिनाइयों को पार करूं? एक बंगाली डाक्टर पिताजी को उनके मरने के बाद देखने आये थे। उनकी फ़ीस शेष रह गई थी। वह मेरे पहुंचते ही वसूल कर ली गयी। उधर दफ़्तर का यह हुकुम कि फ़ौरन् क्वार्टर खाली करो। मैं मारे परेशानियों के पागल सा हो गया। अगर पिताजी गोंडे में एक अधूरा बनता हुआ मकान न छोड़ गये होते तो हम लोगों के लिये ऐसी दुनया बेगानी हो गई थी कि कहीं खड़े होने तक का सहारा न था। वह लोग भी जो रातो दिन पिताजी की खुशामदें करते थे और उनके टुकड़ों पर पले हुए थे मुझे देख कर मुँह फेर लेते थे कि कहीं कुछ मांग न बैठे। मगर उस समय गोंडा सबको लेजाने में भी जान के लाले पड़े हुए थे क्योंकि गोंडे में उस समय प्लेग का बड़ा भीषण प्रकोप था।

मगर जब कहीं और ठिकाना न था तो मेरे लिये प्लेग में भी वही बैकुण्ठ था।

ऐसी विकट परिस्थिति में पिताजी के तीन भिन्न-जातीय मित्र श्री शिवराज सिंह माल बाबू, श्री जनक लाल झा स्टेशन मास्टर और श्री गुलाम रसूल खां टेलिग्राफ़ इन्सपेक्टर का सहारा मिला, जिसके लिये मैं उनका आजन्म ऋणी हूँ। घर का सामान जहाँ तक हो सका बेच बाच कर पिताजी का क्रिया-कर्म किया और सब को लेकर गोंडा आये।"

---

# छठां परिच्छेद

## जीवन-संग्राम

उस दिन मैंने श्री वास्तव जी से और कोई बात न पूछी हाँ दूसरे दिन जब वह अपने काम काजसे छुट्टी पाकर मेरे पास बैठे तो मैंने कहा — आपको जितना अनुभव अपने लड़कपन में हुआ उतना शायद दूसरों को जन्म भर में न हुआ होगा, तभी तो आपकी लेखनी वास्तविकता अङ्कित करने में इतना कमाल दिखाती है !"

उन्होंने एक सूखी सी मुस्कुराहट के साथ उत्तर दिया,—"लेखनी की बात आप लोग जाने यहां तो सदा मर मर कर जीना पड़ा है यह अलबत्ता मैं जानता हूँ। मुसीबतें तो मुझपर इतनी पड़ीं कि मेरा ही दिल जानता है। उनको कहने में मुझे भी कष्ट होता है और सुनने वाले को भी पर आप बिना सुने मानेंगे नहीं। इसलिये इन्हें किसी तरह संक्षेप में उगल देना ही ठीक है।"

यह कहकर उन्होंने आत्मकथा इस प्रकार प्रारम्भ की। "कुछ रुपये के साथ जो घर की चीजें बेचकर एकत्रित हुए थे मैं अपने घर वालों को गोंडे में ईश्वर के भरोसे छोड़कर नौकरी की तलाश में लखनऊ चला आया।

"कैमरन साहब ने जो अब प्रिन्सिपल हो चुके थे कहा कि बी० ए० की परीक्षा के अब थोड़े दिन शेष हैं। तुम पढ़ो। खर्चे के लिये मैं तुम्हें २०० रुपये देता हूँ। जब कमाना तब दे देना।"

कैमरन साहब की सहानुभूतिपूर्ण, प्रेम स्निग्ध बातों पर मैं चकित होकर रह गया। उनका अपने ऊपर इतना बड़ा विश्वास पाकर मैं निहाल हो गया मेरे रोम रोम उत्साह से भर उठे उनके प्रति मेरी

श्रद्धा कितनी बढ़ गई कि मैं बता नहीं सकता। मैंने उस समय रुपये नहीं लिये। पिताजी ने समस्तीपुर की एक दुकान में कई हिस्से खरीद रखे थे। उनकी बिक्री की बाबत लिखा पढ़ी हो रही थी। सौभाग्य से परीक्षा की फीस जाने के एक दिन पहले वह रुपये मुझे मिल गये। इसलिये रुपये के लिये कैमरन साहब को कष्ट नहीं देना पड़ा।

"परीक्षा से छुट्टी पाकर गोंडा में रेलवे के एक अंग्रेज ए० टी० एस० को दस रुपये मासिक पर उर्दू पढ़ाने के लिये ट्यूशन किया और पी० डब्लु० डी० में ३०) रुपये मासिक पर एक क्लर्क की एवजी। प्रातः उठकर स्टेशन पर उर्दू पढ़ाने के लिये कोस भर पैदल जाता था। वहाँ से सवा नौ बजे तक लौटता था। जल्दी से कुछ ठूँस ठाँस कर फिर कोस भर दक्खिन कचहरी दौड़ता था। इस प्रकार दिन भर काम करने के अतिरिक्त नित्यप्रति मुझे चार कोस की दौड़ पड़ती थी। फिर भी रात को कोई न कोई लेख अवश्य लिखा करता था।

'एक दिन सवा नौ बजे दिन को ट्यूशन से लौटा तो देखा कि योगिनी बच्ची बीमार है और उसकी हालत बड़ी ही चिन्ता-जनक है। डाक्टर बुलाने की सामर्थ्य न थी और न बच्ची को डाक्टर के पास ले जाने का समय था। मै तुरन्त कचहरी दौड़ा कि छुट्टी ले आऊँ। बड़े बाबू से छुट्टी के लिये गिड़गिड़ाया। वह न पिघले। उस दिन उन्होंने काम का बोझ और लादकर कहा,—"जो कुछ कहना हो काम खतम करने पर कहना।"

ढाई बजे किसी प्रकार काम समाप्त कर उनके पास गया। फिर वही बेरुखी। बड़ी देर के बाद उन्होंने सिर उठाया और चिढ़कर बोले,—"अभी ले जाओ। पाँच बजे दस्तखत के लिये लाना।" सारे बदन में आग लग गई। मेरा हृदय तिलमिला उठा। 'उफ़! यह अफसर लोग भी कैसे हृदयहीन पत्थर दिल होते हैं और अपने

आधीनों को कैसा पशु से भी निकृष्ट समझते हैं ?' यह बड़बड़ाता हुआ झल्ला कर मैंने सब कागजात उनकी मेज पर पटक दिये और चलता बना।

घर पर बच्ची की हालत कुछ सुधरी हुई पाकर जान में जान आई और साथ ही अपने बी० ए० में उत्तीर्ण होने की खबर भी सुनी।

सब साथी एल० एल० बी पढ़ने इलाहाबाद गये। यह जानकर मैं भी वहीं पहुँचा। सोचे हुए था कि इलाहाबाद हिन्दी का केन्द्र है। कई पत्र और पत्रिकायें निकलती हैं। कुछ न कुछ पुरस्कार का अवश्य सहारा हो जायगा। परन्तु इसमें मुझे बुरी तरह हताश होना पड़ा।

एक लड़कियो के स्कूल में संस्कृत-पंडित की आवश्यकता थी। प्रिन्सिपल और हेडमिस्ट्रेस दोनों अमेरिकन मिसें थीं। प्रिन्सिपल ने मेरी शक्ल सूरत और आयु देखते ही मुझे धता बता दिया, परन्तु हेड मिस्ट्रेस कोई हिन्दी की परीक्षा देने वाली थीं। उन्होंने मुझे दूसरे दिन आने को कहा।

'स्त्री दर्पण' में मेरा उपन्यास 'प्राणनाथ' प्रकाशित हो चुका था। वहाँ श्रीमती कमला नेहरू सञ्चालिका 'स्त्री दर्पण' और उनके पति श्री मोहनलाल नेहरू से, जो ला कालेज में प्रोफेसर थे, मैं मिला। भाग्य ने जोर मारा। वहाँ दस रुपये मासिक की ट्यूशन मिली और वहाँ उसी दिन से अंग्रेजी पढ़ाने लगा।

उधर स्कूल की अमेरिकन हेड मिस्ट्रेस मुझसे एक ही कोच पर बैठकर हिन्दी पढ़ने लगीं। दस बारह दिनो बाद जब वह मेरे चरित्र की अच्छी तरह परीक्षा कर चुकीं, तब वह ले जाकर मुझे संस्कृत पंडित की कुर्सी पर बैठाल आईं। इस प्रकार ३०) रुपये मासिक पर मेरी वहाँ नौकरी हो गई।

ला कालेज में पढ़ाई सुबह और शाम को होती थी। मेरा होस्टेल ८ कटरा रोड पर था। वहाँ से कालिज भी दूर था और श्रीमती कमला नेहरू का बंगला भी दूर था। इसलिये मुझे एक बाइसिकिल की सख्त जरूरत पड़ी। मैं "प्राणनाथ" का बन्डल लिये प्रकाशकों के द्वार खट-खटाने लगा। हर जगह यही सुनने को मिला कि यहाँ काम की बड़ी भीड़ है। केवल एक ने बन्डल देखने के लिये रख लिया और दस बारह बार दौड़ाने के बाद बड़ी रुखाई से कहा कि बन्डल खो गया। यही बड़ी कुशल हुई कि 'प्राणनाथ' स्त्री दर्पण में निकल चुका था जिसके अङ्क एकत्रित करने में मेरे ६) रुपये खर्च हुए।

बाइसिकिल न खरीद सकने के कारण मुझे श्रीमती कमला नेहरू का ट्यूशन छोड़ना पड़ा।

सौभाग्य से पिताजी का 'प्राविडेन्ट फन्ड' अदालती कार्यवाही के पश्चात् मुझे मिल गया। इसी बीच में श्री महादेव प्रसादजी से, जो सजातीय होने पर भी संस्कृत के ज्ञानी तथा आर्य्य समाज के विख्यात उपदेशक होने के नाते पंडित देवदत्त शर्मा के नाम से प्रसिद्ध थे, मेरी बाल विधवा बहिन सहोद्रा का विवाह हो गया। इससे स्थानीय विधवा विवाह विरोधी जल मरे।

एल० एल० बी० के प्रथम वर्ष की परीक्षा देकर जब मैं घर आया तो मुझे एक सम्बन्धी की बारात में 'आरा' जाना पड़ा। वहाँ साहित्य महारथी पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्मा के दर्शन हुए। इन्होंने बाद को मेरी 'नोक-झोंक' की अत्यन्त ही योग्यता पूर्ण भूमिका लिखी। आरा में पता चला कि 'लीडर' में एल० एल० बी प्रथम वर्ष का परीक्षा फल प्रकाशित हुआ है और वह अङ्क एक पड़ोस के गांव में जो एक कोस की दूरी पर था किसी व्यक्ति के पास आया भी है। पंडित जी स्वय जाकर वह अङ्क ले आये और मेरे उत्तीर्ण होने का शुभ समाचार सुनाकर मुझे बधाई दी।

जुलाई सन् १६१४ में जब एल० एल० बी द्वितीय वर्ष में पढ़ने के लिये इलाहाबाद आया तब पिता जी के प्राविडेन्ड फन्ड में से सौ रुपये अपने साथ लेकर आया और उसे "लम्बीदाढ़ी" छपाने में लगा दिया। उन्हीं दिनों हिन्दी के विख्यात कवि श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी मुझसे मिलने मेरे होस्टेल में पहुँचे। वह मेरे हाथ में 'लम्बी-दाढ़ी' का प्रूफ देख कर इतने खुश हुए कि वहीं बैठे-बैठे कविता में अपना आशीर्वाद लिख दिया। उसे लेकर मैं श्री जगत मोहन के पास दौड़ा जो चौक में एक किराये के मकान में कुछ छात्रों के साथ रहते थे। उन्होंने भी अपनी स्मृति 'कैसी कहानियाँ हैं' लिख दी।

## "लम्बी-दाढ़ी" का स्वागत

"पुस्तक छपते ही लूट सी मच गई। सभी स्कूल, कालिज और होस्टेल के विद्यार्थी उसको खरीदने के लिये फट पड़े। मगर पुस्तक की १०० प्रतियाँ बिकती थीं तो केवल ३०-४० के ही मूल्य प्राप्त होते थे शेष के दाम उधार रहते थे जो आज तक न मिले। इस प्रकार घर का रुपया तो न निकल पाया मगर प्रेस का बकाया साफ कर दिया।

कविवर मन्नन द्विवेदी को जो प्रति भेंट की थी, उसे वह किसी सरकारी पद पर होने के कारण अपने कमिश्नर साहब को दे आये। वह हिन्दी के प्रेमी थे। हिन्दी पुस्तकों का अध्ययन करना चाहते थे मगर क्लिष्ट हिन्दी पर उनका वश नहीं चलता था। वह लम्बी दाढ़ी पढ़ कर फड़क उठे।

उन्होंने द्विवेदी जी को बुला भेजा और कहा,—"मुझे इसके लेखक से मिला दीजिये।" वह दौड़े हुए मेरे पास आये और मुझे अपने साथ ले गये। कमिश्नर साहब भोजन कर रहे थे। खानसामा किसी प्रकार भी सूचना देने को राजी नहीं हुआ। तब द्विवेदी जी ने अपने कार्ड पर मुझसे अपना नाम लिख देने को कहा और एक रुपया खान-

सामा को देकर कहा कि इस कार्ड को साहब की मेज पर रख भर दो। साहब जैसे प्रतीक्षा में बैठे हों। कार्ड पहुँचते ही कमरे से बाहर निकल आये। हम लोगों को ले जाकर अपने साथ बैठाया और भोजन करने का आग्रह करने लगे।

धन्यवाद देते हुए हम लोगों ने कहा कि हम लोगों ने अभी अभी भोजन किया है।

उन्होंने हिन्दी के कई अंग्रेज प्रेमी के पते लिखवा कर उनके पास "लम्बी दाढ़ी" भेजने के लिये अनुरोध किया और चलते समय कहा—"आशा है हमलोग फिर मिलेंगे। तुम जैसे होने वाले विख्यात पुरुष से मिलकर मैं आज अपने को धन्य मानता हूँ।"

"हमारे कैनिंग कालिज के प्रोफेसर ब्राउन साहब ने जिन्होंने बाद मे मेरे 'मार मार कर हकीम' की भूमिका लिखी है; प्रोत्साहन स्वरूप २० प्रतियां "लम्बी दाढ़ी" की मुझसे खरीद कर विलायत में अपने मित्रों को भेजी। इस प्रकार हिन्दुस्तान से लेकर विलायत तक "लम्बी दाढ़ी" की धूम मच गई। अंग्रेज और अंग्रेजी पढ़ी जनता जो क्लिष्टता के कारण हिन्दी से दूर भागती थी, अब बड़े चाव से "लम्बी दाढ़ी" पढ़ने लगी। यह पुस्तक अब तक कैसी प्रसिद्ध रही है इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि हाल ही में अर्थात् १६५७ के लखनऊ आकाशवाणी में जब भाग लेने गया था तो वहां एक सज्जन मेरा परिचय प्राप्त करते ही "लम्बी दाढ़ी" का एक बनावटी अंग्रेजी का जुमला सुना बैठे—"The hyperbolicism of Akbar had tormendicularly been gandolised by latticism of Humayun.

मैंने अपनी अंग्रेजी में लिखी कहानी Mr Samuel Saxon को हिन्दी में भी लतखोरी लाल के नाम से 'इन्दू' में लिखा जो बाद

को धारावाहिक रूप में 'चाँद' में बढ़ायी गयी। इसी प्रकार 'स्वामी चौखटानन्द' की भी बुनियाद उन्हीं दिनों पड़ी थी।

मिलने पर ब्राउन साहब ने बताया कि मैंने तुम्हारी Samuel Saxon नामक कहानी अपनी मासिक पत्रिका में प्रकाशित करने के लिये सुधारी थी। मगर इसी बीच में देखा कि वह पञ्जाब की Ravi नामक अंग्रेजी पत्रिका में निकल गई।

उस पत्रिका में सचमुच Samuel Saxon नामक कहानी अंग्रेजी में इसी नाम से निकली थी मगर लेखक कोई और था। वह 'लतखोरी लाल' का अंग्रेजी अनुवाद था। मगर अनुवाद था। मगर अनुवादक ने अपना नाम मूल लेखक की भांति दे रखा था। मैं दिल में कह उठा कि ब्राउन साहब मेरी कहानी को शायद चोरी का माल न समझते हों। इसलिये लिखा पढ़ी करने पर सम्पादक और अनुवादक ने जब अपनी भूल के लिये पत्र के दूसरे अंक में माफी मांगी तब मेरी जान में जान आई।"

## औंधी खोपड़ी

अपने कालिज जीवन के अन्तिम दिनों में अपनी साहित्यिक प्रगति पर प्रकाश डालते हुए श्रीवास्तव जी ने एक अनोखी घटना का वर्णन इस प्रकार किया—

"मैं न बोलूंगी" के समान आत्मवार्ता रूपी एक बिल्कुल ही नये ढंग के लेखों का जन्म दे चुका था जिस पर मुझे अभिमान भी हो रहा था। मगर 'उड्डंक' नामक शीर्षक पर मेरी लेखनी अटक गई। महीनों सोचता रहा कि इसको किस प्रकार आत्मवार्ता में ढालूं, क्योंकि 'उड्डंक' के पश्चात् मुँह से कोई शब्द निकलना असम्भव है।

एक दिन स्वप्न में मेरी कठिनता सरल होगई। उसी समय उठकर लिखने लगा। मेरे पास ही एक संस्कृत के ग्रेजुएट सो रहे थे जो क्लिष्ट

भाषा के पुजारी थे और मेरे लेखों से जले रहते थे। वह मुझे लिखते हुए देखकर झुंझला कर बोले,—"झूठ मूठ लिखा करते हो। यदि अमुक पत्रिका में तुम्हारा लेख छपे तो जाने कि तुम लेखक हो।"

मैंने ताव में वह "उड़ुंक" नामक लेख वहीं भेज दिया। मगर सचमुच वह लेख वहाँ से इस नोट के साथ वापस आगया कि हमारी पत्रिका स्त्रियों में भी जाती है। मेरी किरकिरी होगई और उसे चिढ़ाने का मौका मिल गया। मैंने भी जलकर उसके व्यंगों का भी उत्तर दिया— "जब तुम जैसी औंधी खोपड़ियां हमारे लेखों को समझने लगेंगी,, तो हिन्दी का क्रिया कर्म कौन करेगा ?"

उसने भी उसी ताव से उत्तर दिया—"जब स्वामी चौखटानन्द में एक अछूत बालिका को नायिका बनाकर हमारी पवित्र भाषा को रसातल पहुँचा दिया तो अब शेष क्या रह गया ?"

हमारी बकवास तो कुछ देर में समाप्त हो गई मगर उस दिन से उनका नाम 'औंधी खोपड़ी' पड़ गया। मैंने भी उनके ऐसे सम्पादकों की पोल अपने 'बेदुम का लेख' नामक लेख में जो खोलकर किया जो 'भड़ाम सिंह शर्मा' में है। उस ढंग का लेख बाद में लिखना छोड़ दिया।

ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद कि मेरी गर्वोक्ति कुछ दिनों पश्चात् सत्य होकर रही। कई वर्ष बाद उर्दू की एक पत्रिका में मैं अपनी समस्त 'नोक झोंक' जिसमें वह लौटाला हुआ लेख और उस ढंग के कई लेख हैं अपने ही नाम से धारावाहिक रूप में बड़े सम्मान के साथ छपी हुई देखा।

उन्हीं लेखों पर मुग्ध होकर एक स्वाधीन राज्य की महारानी ने मुझे २००) रुपये का इनाम दिया और 'नोकझोंक' को बंगला में अनुवाद कराने की अनुमति माँगी। एक बंगाली सब जज मैंने अपनी पत्नी को सुनाने के लिये उन लेखों को बंगला में अनुवाद कर डाला।

उक्त महारानी महोदया ने "लम्बी दाढ़ी" पर भी मुझे २००) रुपये का इनाम दिया और उसका भी बंगला भाषा में अनुवाद करने की अनुमति ली। मगर किसी कारण से किसी का भी बंगला अनुवाद प्रकाशित न हो सका।

जिस अच्छूतोद्धार के कारण मेरे "स्वामी चौखटानन्द" पर औंधी खोपड़ी की नाक सिकुड़ गई थी उसी अच्छूतोद्धार का बाद में स्वयं गांधीजी ने भी डंका पीटा। गुजराती की प्रधान पत्रिका 'बीसवीं-सदी' ने स्वामी चौखटानन्द की अछूत नायिका का कई चित्रों द्वारा सम्मान किया। उक्त पत्रिका में 'नोकझोंक', 'लम्बीदाढ़ी', 'लतखोरी लाल' के बराबर अनुवाद होते रहे।

अपनी लम्बीदाढ़ी की ऐसी अनोखी सफलता देखकर मैंने सोच लिया था कि एल० एल० बी० पास कर मैं निजी प्रेस खोलकर अपनी पुस्तकों का प्रचार करूँगा।

किन्तु परीक्षा देकर घर गया तो देखा कि माता जी ने लगभग सब प्राविडेन्ड फन्ड अधूरे मकान की पूर्ति में व्यय कर दिया है। आर्थिक कठिनाई में पड़कर मैं कुछ भी करने योग्य नहीं रह गया।"

---



# सातवाँ परिच्छेद

## साहित्य के वृक्ष

गोंडे में मकान होने के कारण श्रीवास्तवजी ने एल० एल० बी० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सन् १९१५ में अपनी वकालत वहीं शुरू की और अपने भरण पोषण के लिये इसी पर भरोसा करना पड़ा; क्योंकि साहित्य सेवा में कोई आर्थिक लाभ न था। फिर भी वह साहित्य सेवा से विमुख नहीं हुए। धड़ाधड़ पत्रों में लिखते जाते थे और बाद को उन्हें पुस्तक का रूप देकर अपने भाई श्री बी० पी० सिनहा द्वारा जो उस समय गोंडे के स्कूल के छात्र थे प्रकाशित करते जाते थे। इस प्रकार 'मारमार कर हकीम', 'नाक में दम', 'मरदानी औरत', 'नोकझोंक', 'महाशय मड़ाम सिंह शर्मा' और दूसरा संस्करण 'लम्बी दाढ़ी' और 'नोकझोंक का प्रकाशित हुआ।

## दुमदार आदमी

श्रीवास्तवजी तथा उनके कई साथियों के पहुँच जाने से गोंडा के युवक वकीलों में एक नवीन जीवन का सञ्चार हुआ। और उन लोगों ने पूर्वीय भाषाओं के धुरन्धर विद्वान् श्री आर० पी० ड्यूहर्स्ट आई० सी० एस० डिस्ट्रिक्ट जज के संरक्षण में एक नाटक मण्डली स्थापित की जिसका पहला तमाशा २८ अक्तूबर सन् १९१७ को हुआ।

यह गोंडे के लिये बिल्कुल ही नई बात थी। वहां के पुराने वकील तथा उनके प्रभाव से यहां की समस्त जनता इस मण्डली से जल उठी। और हज़ारों की सख्यां में इस मण्डली पर थपोड़ियां पीटने और उनकी खिल्ली उड़ाने के लिये नाटक के दिन फट पड़ी। जनता के इस भाव का पता श्रीवास्तवजी को एक दिन पहले चल गया।

लक्ष्मण श्रीवास्तव जी ने 'दुमदार-आदमी' नामक प्रहसन लिखा फिर अभिनेताओं को तैयार कराया और नाटक के दिन मुख्य नाटक के पहिले ही उसे खेला।

नाटक मण्डली की खबर लेने वाले इस मनसूबे मे आये थे कि आज मारे थपोड़ियों के नाटक वालों को छट्ठी का दूध याद करा देंगे? मगर पर्दा उठते ही अपनी ही हुलिया दुमदार आदमी के रूप मे देखकर सन्नाटे में आगये। रूप भी कैसा? एक पैर में चूड़ीदार तो दूसरे पैर में ग़रारेदार पाजामा। उसपर उल्टे ढंग से अचकन पहने, बच्चों की तरह डन्डे के घोड़े पर सवार—क्योंकि बड़े आदमी बिना सवारी के पैदल चल नहीं सकते—एक लम्बी और ऊँची सी दुम लगाये जिस पर बी० ए० बी० एस० सी०. एल० एल० बी० लिखा था। एक हाथ में जूता लेकर डंडे को मारते और टिखटिख करते जीवन में पहले पहल नाटक देखने आ रहा है।

एक तो दुमदार आदमी की अनोखी धजा उसपर दुम की नवीनता आपको उपहास जनक बनादेने के लिये काफी हैही; फिर भी जो कुछ कसर रह जाती है उसको आपकी अक्ल, समझ और योग्यता पूरा कर देती है। आप पूछते फिरते हैं कि नाटक क्या बला है।

लोगोंने ताज्जुब में आकर कहा—'अरे! आप नाटक नहीं जानते? तो आप के पीछे डीग्रीयों की इतनी लम्बी दुम कैसे लग गई? आप जवाब देते हैं—"इसको तो युनिवर्सिटी ने ख़ाहमख़ाह मेरे पीछे खोंस दिया है।" फिर दुम की तारीफ़ में कहते हैं कि—"जब कभी हम ऐसे बड़े आदमियों को ओहदा और अख्तियारात मिलते हैं तो इस दुम में बिच्छू की तरह डंक निकल आता है जो सिवाय नुक़सान के फ़ायदा पहुँचाना जानता ही नहीं।" यहाँ पर यह दोनों व्यंग बड़े गहरे और मार्के के हुए हैं जिन्हें सुनते ही हँसी उड़ाने वालों पर सैकड़ों घड़े पानी पड़ जाते हैं।

इसके बाद जब हजरत नाट्यशाला में घुसकर अभिनेताओं पर इस तरह बरस पड़ते हैं—'वाह ! वाह ! शर्म न आई ? रण्डियों और भांडों की तरह गाये बजाये नाचे कूदे स्वांग बनाकर शरीफ बनते हैं। वकील हैं, बड़े आदमी कहलाते हैं और अठन्नी पर नाचे। इत्तेरे की ! डूब मरो चुल्लू भर पानी में। खुद जलील हुए और अपने साथ हम लोगों की भी शान खराब की ?"—तब हँसी उड़ाने वालों का हाल पूछने योग्य नहीं रह जाता।

इस प्रहसन का हास्य उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है जब हजरत नाटक देखकर घर वापस जाते हैं और बीबी इनसे देर से आने का कारण पूछती है। आप बताते हैं कि—"मैं नाटक देखने गया था और वहाँ सबसे अजीब बात देखने की यह थी कि वहाँ मर्द लोग औरत बनकर नाचते थे।" बस बीबी इनके पीछे पड़ जाती है। खुद मरदाना कपड़ा पहिन लेती है और इन्हें महरिन की साड़ी देकर औरत बनकर नाच दिखाने के लिये मजबूर करती है। वैसे ही फट पड़ता है महरा। वह साड़ी के धोखे में इन्हें अपनी स्त्री समझता है और पर पुरुष के साथ इन्हें इस तरह गुलछर्रे उड़ाने के लिये ऐसा मजा चखाने लगता है कि हँसी उड़ाने वालों का भी अन्त में हँसते हँसते बुरा हाल हो जाता है।

इस प्रहसन का ऐसा प्रभाव पड़ा कि नाटक पूर्ण रूप से सफल हुआ और किसी ने फिर नाटक वालों पर उँगली उठाने का साहस नहीं किया। इसमें दुमदार आदमी का पार्ट स्वयं श्रीवास्तवजी ने किया था।

इस प्रकार जब कभी गोंडे में वकीलों द्वारा कोई नाटक खेला गया है उसमें श्रीवास्तवजी को कोई न कोई अपना नया प्रहसन अवश्य खेलना और उसमें स्वयं भाग लेना पड़ा है। यही कारण है कि श्रीवास्तवजी के प्रहसन रंगमञ्च पर पूर्ण रूप से सफल होते हैं।

ड्यूहर्स्ट साहब इस प्रहसन पर इतने खुश हुए कि उन्होंने श्रीवास्तवजी से अदालती संसार को चित्रण करने का अनुरोध किया। फल स्वरूप श्रीवास्तवजी ने १६१८ में 'उलटफेर' नामक नाटक लिख कर अदालती संसार की खूब ही खिल्ली उड़ाई ! इसे पढ़कर ड्यूहर्स्ट साहब चकित होकर रह गये। इसकी भूमिका उन्होंने स्वयं लिखी है। इस नाटक का अंग्रेजी में बहुत प्रचार रहा। उन दिनों ऐसा कोई भी आई० सी० एस० अंग्रेज नहीं था जिसके पास यह किताब नहीं थी। सरकारी रिपोर्ट में उस साल की हिन्दी प्रकाशित पुस्तकों में यह नाटक सबसे उत्तम माना गया था। अंग्रेजों द्वारा सम्पादित अंग्रेजी पत्रों ने भी इसकी खूब प्रशंसा की थी।

इसी बीच में वी० पी० से भेजने के लिये रजिस्ट्री कराना जरूरी हो गया जिससे वी० पी० का खर्चा बहुत बढ़ गया जिसके कारण श्रीवास्तवजी को प्रकाशन का कार्य बन्द कर देना पड़ा।

"लम्बी दाढ़ी" का तीसरा संस्करण श्रीवास्तवजी के मित्र श्री शम्भूदयालजी के भाई श्री त्रिभुवन दयालजी द्वारा जिन्होंने लखनऊ में प्रेस खोला था प्रकाशित हुआ। शेष अब तक की सभी पुस्तकों का प्रकाशन अधिकार काशी की हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने ले लिया और लगभग १६१६ तक उन पुस्तकों का भी प्रकाशन अधिकार लेती रही जो श्रीवास्तवजी लिखते गये।

१६२२ के लगभग श्रीवास्तवजी ने 'पागल' के उपनाम से प्रेमरस की मनोवैज्ञानिक कहानियाँ जो गंगाजमुनी में है लिखनी आरम्भ की। जिसका उल्लेख प्रथम भाग में किया जा चुका है और जिसकी 'राधा' नामक गल्प पर श्रीवास्तवजी को एक रजत पदक भी मिला है।

इन दिनों श्रीवास्तवजी का खर्चा बहुत बढ़ा हुआ था। अपने मकान की बगल में उन्होंने एक और नया मकान बनवाना आरम्भ कर दिया था। उधर भाई की शादी करने के बाद अपनी छोटी बहिन

योगिनी को भी शादी करनी पड़ी। ईश्वर की कृपा से सब बेड़ा पार करते गये। वकालत के पेशे में इन्हें अपने नाना से सीखी हुई भूमि नापने और नकशा बनाने की कला बहुत काम आई। इनकी मुख्य आमदनी इसीसे बराबर होती रही और अब तक है, क्योंकि इस कला में आप बहुत ही प्रवीण समझे जाते हैं। आपने इस कला पर अंग्रेजी में Survey and Demarcation नामक पुस्तक भी १६४७ में लिखी है, जो इस विषय पर सबसे उत्तम मानी जाती है।



# आठवां परिच्छेद

## श्रीवास्तवजी की भूलें

श्रीवास्तवजी को अपने जीवन में विचित्र हास्य-जनक परिस्थितियों में भी पड़ना पड़ा है जो 'श्रीवास्तवजी की भूलों' के नाम से मशहूर है। उनमें से एक जो उनकी वकालत से सम्बन्ध रखती है पाठकों के मनोरञ्जनार्थ यहाँ पर उन्हीं के शब्दों में दी जा रही है—

### वकील नहीं टेकाने वाला

"यह शुरू वकालत की भूल है। शामको जब घूमघाम कर आया तब एक मुवक्किल मेरे पैरों पर गिर कर बिलख बिलख कर रोने लगा। मालूम हुआ कि कल उसके और उसके लड़के के खिलाफ फैजाबाद कमिश्नरी में अपील है। लड़का एक दिन पहले ही मय रुपये के पैदल चला गया, और इसे १५) देकर कहा कि वकील साहब को लेकर आना। उनके पहुँचते ही वहां फीस मिल जायगी। मगर धर्मशाला में बेचारे की जेब कट गयी और उसके वकील साहब बिना फीस और सफर खर्च पहले लिये किसी हालत में बाहर जाने को तैयार नहीं ह। इसलिए वह मेरे पास दौड़ा है। मुझे उसकी गिड़गिड़ाहट पर ऐसा तरस आया कि पचास रुपये फीस और १५) सफर खर्च के वादे पर तैयार हो गया। देखने में था बिलकुल बुड्ढा और मुनहनी-सा मगर जब खिलाने बैठा तो सवा सेर पूड़ियां खा गया। उस पर मुसीबत यह कि रात में उसे दिखाई नहीं पड़ता था।

"दो बजे रात की गाड़ी से चले। उसे भी अपने साथ सेकण्ड क्लास में बैठाया। मनकापुर में गाड़ी बहुत लेट पहुंची। अभी उसे सहारा देकर उतारा ही था कि दूसरी चढ़नेवाली गाड़ी ने सीटी दे दी।

तब उसे खुड़इयां उठा कर अपनी पीठ पर लादा और गाड़ी पकड़ने दौड़ा। क्योंकि अगर यह न होगा तो फीस देने के लिए उसका लड़का मुझे पहचानेगा कैसे? फैज़ाबाद में उसे एक होटल के दरवाजे पर बिठाल कर भीतर चाय पीने गया। बाहर निकला तो उसका पता नहीं। दो घंटे के इन्तजार के बाद कचहरी गया। वहां भी वह न मिला। पता लगाया तो उस नाम का कोई अपील ही न थी। अब जाना कि उसे वकील की नहीं बल्कि खाना, टिकट और टेकाने वाले की जरूरत थी।"

श्रीवास्तवजी को कमीशन के सिलसिले में लगभग हर रविवार को भूमि नापने के लिये बाहर जाना पड़ा है। उनकी इन यात्राओं में प्रायः विचित्र घटनाएँ घटी हैं। उनमें से एक का आनन्द यहाँ पर उन्हीं के शब्दों में लीजिये—

## बहनोई की आवभगत

"शुरू वकालत में मुझे 'रेहरा' से ३ कोस के फासले पर जांच और पैमायश करने के लिए एक अदालत से कमीशन मिला। मुवक्किल ने कहा कि मैं आपकी सवारी के लिये घोड़ा लेकर 'रेहरा' आऊँगा और वहीं मिलूंगा। न आ सका तो सवारी के साथ किसी को भेज दूंगा।

जिस दिन जाना था उस दिन रेल से मैं सुबह को मनकापूर पहुचा और वहां से बस से रेहरा गया। रेहरा में मोटर रुकने पर मैं इधर-उधर देखने लगा कि कोई मेरे इन्तजार में है या नहीं। देखा कि एक बागड़ सा देहाती युवक सड़क के किनारे खड़ा मुसाफिरों को बड़े गौर से देख रहा है। मेरी उसकी आंखें चार होते ही टकटकी बँध गई फिर उसका चेहरा खिल गया। मैं समझ गया कि यही मेरे मुवक्किल का भेजा हुआ आदमी है। मैं उसकी तरफ बढ़ा और वह

भी बड़े तपाक से मेरी तरफ लपका। उसने झट मेरा पैर छूकर सलाम किया और कहा—

'तोहार आसरा देखत-देखत हम मर गयेन। तीन दिन से दूनों जून दौड़ित है और आपन मुँह लैके लउट जाइत है। मुला आज सहबाना टोपी देखते हम, जान गयेन कि तुहीं हो।'

मैंने कहा—'तीन दिन नाहक दौड़े। मैंने तो आने के लिये आज की तारीख बतायी थी। वह नहीं आये ?'

वह बोला—'वै नाहीं आये नाहीं सही। हम तो हन। हमसे घबरात काहे हो ?'

मैंने डपटकर हाकिमी शान में पूछा—'घोड़ा कहां है ?' वह ताज्जुब में बोला—'घोड़ा ?'

मैंने कहा—'हां हां घोड़ा! आखिर मैं जाऊँगा किस पर। वह एक बारगी इस तरह हँस पड़ा कि सब हम दोनों को देखने लगे। अब वह उन लोगों से कहने लगा—'ऐ भाई वह देखो गांव दिखाई पड़त है। परग भर भूईं है। मुला हुआ बीबीजान जइहें केह पर घोड़ा पर। अस नखरा कहूँ देखे हो भाई ?' अब उसने मेरी तरफ घूम कर गालियां देते हुए कहना शुरू किया,—'कहो तो डोली ले आई! मुल तनि घुंघुट तो निकार लेवो।'

सब हँस पड़े। मैं पानी पानी हो गया। उस भीड़ से निकल भागने के लिए आगे बढ़ा। मेरा झोला उसी के हाथ में था। इसलिये उसको भी यह कहता हुआ चलने का इशारा किया—'मुझे मालूम न था कि मौका यहां से इतना नजदीक है।'

वह फिर चकरा कर बोला—'अरे जीजा, यू का कहत हो! तीन बरस लहौरमा रह्यो, का आपने ससुररियो भूल गयो ? और रहत्यो तो

आपन बापो का भूल जात्यो। हम से चले हैं सेखी दिखावे। तनि नकुना पर हाथ धर के बोलो तो नीको लागे।'

अब काटो तो मेरे खून नहीं। ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद दिया कि मुझे रास्ते में ही अपनी भूल मालूम होगई। वर्ना गांव में पहुंच कर न जाने मेरी गति क्या हो जाती। उससे जान छुड़ाने की जितनी ही कोशिश करता था उतना ही वह गालियों से साले-बहनोई का रिश्ता बर्तने लगा और गले में हाथ डाल कर जबरदस्ती मुझे घसीट ले जाने की कोशिश करने लगा। अजीब मुसीबत में मैं फँस गया। इत्तिफाक से उधर से एक पुलिस का चौकीदार आता हुआ दिखाई पड़ा। वैसे ही मैंने घबराकर कहा—'अरे गजब हो गया। अब तुम भी मेरे साथ पकड़े गये। झोला फेककर भागो। इसमें सेर भर गांजा है। इस तरह उससे पिण्ड छूटा और मैं भागकर कांजी हाउस के पिछवाड़े पहुँचा। वहां मवक्किल साहब मय घोड़ी के मिल गये।"

इसी सिलसिले में श्रीवास्तवजी की कुछ अन्य भूलों की भी बहार देखिये—

## सिनेमा देखने का मजा

"विदेश का समाचार तो सुना अब जरा स्थानीय समाचार भी सुन लीजिये। तकदीर की खूबी से मुझे चाहने वाले मिले भी तो कौन? कुत्ते या फिर बच्चे। जब किसी कुत्ते वाले के यहाँ जाता हूँ तो घर आकर साबुन से मुँह जरूर धोना पड़ता है और घन्टों कोट पर से पञ्जों के धब्बे मिटाने में लग जाते हैं। बच्चों का हाल क्या बताऊँ? एक दिन सिनेमा गया था। मेरी बगल में एक मिस्टर एक बच्चा लेकर बैठे और उनके बाद एक बुर्के वाली। बुर्के के कारण बच्चा माँ का मुँह देख नहीं पाता था और मिस्टर से बुरी तरह घबराता था। शान्त करने के लिये मैं उसको चुमकार बैठा। बच्चा मेरी गोद में फट पड़ा।

वह दोनों मजे में सिनेमा देखने लगे और मेरी किस्मत में बच्चा खिलाना था। उस पर मुसीबत यह हो गई कि बच्चा मेरी नाक ही को अपनी दूधदानी समझ बैठा। जान सांसत में पड़ गई। उसके बाद मेरे कपड़ों की जो हालत हुई कहने के काबिल नहीं। बच्चे को मिस्टर की गोद में ढकेल कर आखिर वहाँ से भागना ही पड़ा।"

## माननीयाजी की...

"चोट पर चोट लगती ही है। इसी तरह मुझसे भूल पर भूल हो ही जाती है। अभी रात की सिनेमा वाली बौखलाइट दूर नहीं हुई थी कि सुबह को टहलते जाते वक्त एक ऐसी भूल कर बैठा कि कुछ कहा नहीं जाता। जांघिया पहन कर सोया था। मुँह अँधेरे उठकर झट उसपर ढीला पाजामा पहना और टहलने निकल गया। आठवें फर-लांग पर सुबह हुई तो एक राही ने टोका कि बाबूजी आप क्या पहने हुए हैं। अब जो नजर डाली तो देखा कि पाजामे की जगह पर भूल से माननीयाजी का पेटीकोट पहने हूँ जिसका पता अन्दर जांघिया होने के कारण मुझे कुछ भी न मिल सका था। अब आगे का हाल न पूछिये। किसी तरह घर पहुँच कर सारा गुस्सा भजन पर उतारा कि उसने मेरे कपड़ों के साथ पेटी-कोट क्यों रख दिया?"

## जादू का तमाशा

"एक दिन एक थारू (हिमालय की तराई में रहने वाले जादूगर) को अपने मकान के सामने से निकलते देखा। मैं चकित होकर उसे देखने लगा। उसने सलाम किया। थोड़ी सी बातचीत हुई। दूसरे दिन वह मेरी बैठक में आकर बैठा। इसी तरह वह कई दिन तक आया। एक दिन पूछा,—"बाबू! तू इत्ता सुस्त क्यों रहता है?

मैंने कहा—"क्या बताऊँ मेरे बहनोई छै महीने से लापता हैं।

उनके बाल बच्चे मेरे ही यहाँ हैं। उन्हें देखकर मेरी छाती फटा करती है।"

वह बोला,—"तो हमसे काहे नहीं बताया। हम थारू लोग अपने जादू मनतर से जब गड़ा हुआ धन बता देता है तब तेरा बहनोई मुछरा क्या चीज है। हम एक नहीं पचहत्तर बहनोई का पता बता देगा।"

मैंने कहा—"अरे भाई! मैं एक ही बहनोई का कुशल समाचार जानने के लिये मरा जाता हूँ।"

उसने कहा—"अच्छा, दो पैसे का लोहबान मंगाले, बस अभी हम बता देता है। मगर ठीक बारह बजे और देख घर में कोई न हो।"

मगर श्रीमती जी मुझे अकेला छोड़ न सकीं।

थोड़ी देर तक अंट-संट कुछ मन्त्र पढ़ा गया। उसके बाद उसने न जाने कहाँ से एक छूरा निकाला। फिर उसकी सूरत यकायक ऐसी डरावनी हो गई और उसके मुँह से एक बालिस्त की जबान निकल पड़ी कि हम लोगों के प्राण सूख गये। अब लगा चिल्लाने कि "जल्दी से सौ रुपये का भैंसा चढ़ा, भैंसा। नहीं जान गई। अरे! बाप रे बाप! मरा! मरा! मरा! दोहाई मेरे देवता की। लो बलिदान।"

यह कहकर लगा अपनी जबान छूरी से काटने।

उस समय घर में पचीस ही रुपये थे। श्रीमतीजी झट उन रुपयों को उसके सामने रखकर उसके पैरों पर गिर पड़ीं।"

जब तक हम लोगों के होश ठिकाने हों तब तक वह रुपये समेट कर ऐसा चम्पत हुआ कि फिर वह कभी दिखाई न पड़ा।"

—:o:—

# नवाँ परिच्छेद

## महत्वपूर्ण घटनायें

लगभग १९३७ से हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने स्कूली किताबों के प्रकाशन में फंस जाने के कारण श्रीवास्तवजी की अन्य रचनायें प्रकाशन के लिये नहीं मागीं। इस कारण श्रीवास्तवजी की लेखनी कुछ सुस्त पड़ने लगी। सौभाग्य से इसी बीच में श्री पी० एम० खरेघाट आई० सी० एस० कमिश्नर कोआपरेटिव सोसाइटी ने आपसे सोसाइटी के सिद्धान्तों पर "जैसी करनी वैसी भरनी" नामक नाटक (जिसका अब नाम लकड़बग्घा है) लिखवा कर उक्त सोसायटी द्वारा प्रकाशित किया। इधर दिल्ली के जगजीत फिल्म कम्पनी ने भी जिसका उद्देश्य केवल हास्य फिल्मों का निर्माण करना था श्रीवास्तवजी से अपनी पहली फिल्म के लिये 'भूलचूक' लिखवाया। मगर मालिक कम्पनी के सहसा मृत्यु हो जाने के कारण उसकी फिल्म न बन सकी। कोई अन्य प्रकाशक से अब तक सम्बन्ध नहीं हो सका। इस कारण श्रीवास्तवजी ने भूलचूक को स्वयं छपवाया।

१९२६ में गंगा पुस्तकमाला लखनऊ से आपका सम्बन्ध हुआ। मगर यह सम्बन्ध चिरस्थाई न हो सका, क्योंकि वहाँ से आपकी केवल दो रचनायें (१) कागजी करतब—(खेलखेल ज्यामिति सिखानेवाली शिक्षा की अपूर्व पुस्तक) और (२) हास्य-रस—प्रकाशित होकर रह गईं।

### चाँद कार्यालय से सम्बन्ध

इन्हीं दिनों चाँद के सुयोग्य सम्पादक तथा चाँद कार्यालय के

मालिक श्री रामरख सिंह सहगल से श्रीवास्तवजी से भेंट हुई। फिर तो सहगलजी श्रीवास्तवजी के ऐसे पीछे पड़ गये कि श्रीवास्तवजी को चाँद के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं लेख भेजने का अवसर ही नहीं मिलता था। इससे कुछ सम्पादक श्रीवास्तवजी से जलने लगे। अब "चाँद" कार्यालय ने आपकी समस्त रचनाओं का प्रकाशक होना स्वीकार कर लिया। इसी बीच में आपकी 'गंगाजमुनी' पर जिसमें प्रेमरस की मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं कुछ अनुचित समालोचना हो गई। अभी आपने "चाँन्द" में "लतखोरी लाल" को धारावाहिक के रूप में लिखना आरम्भ ही किया था कि इस समालोचना से जल कर "दिल जले की आह" नामक दूसरी गम्भीर रस की धारा "पागल" के नाम से चाँद ही में जारी करदी। इस रचना में श्रीवास्तवजी ने समालोचक की पोल खोलते हुए गम्भीर रस के क्षेत्र में कला के ऐसे ऐसे अनुपम चमत्कार दिखायें हैं कि बस चकित होकर रह जाना पड़ता है। जब 'दिल जले की आह' के लगभग ५०० पृष्ठ निकल चुके तब इनके एक स्थानीय मित्र और चेयरमैन बा० बनवारी लाल वकील ने इनसे कहा कि—'तुमने इस उपन्यास में हम सब को बहुत रुलाया है और मैं देखता हूं कि तुम दुखान्त की ओर जा रहे है। मैं जानता हूँ कि कला का चमत्कार अधिकतर दुखान्त ही में होता है। अगर तुमने सचमुच दुखान्त कर दिया तो विश्वास मानो न जाने कितनों का 'हार्ट फेल' हो जायेगा और सब का पाप तुम्हारे सर होगा।' यह बात श्रीवास्तव जी के दिल में जम गई। मगर इतनी दूर दुखान्त की ओर चलकर उपन्यास को सुखान्त बनाना असम्भव सा था फिर भी आपकी लेखनी ने असम्भव को ऐसा सम्भव कर दिया है कि तारीफ़ नहीं हो सकती।

"चाँद" का फाँसी अङ्क जिसमें श्रीवास्तवजी की 'लोक-परलोक' के नायक 'कानूनीमल' का जन्म हुआ था बड़ी धूम धाम से निकला

था। इसकी अपूर्व सफलता पर उत्साहित होकर "चाँद" ने कई विशेषांक निकालने की कल्पना की। उनमें "कायस्थ-अंक" भी था। जिसके सम्पादन का भार सहगल जी ने श्रीवास्तव जी पर लाद दिया।

## श्रीमान सच्चिदानन्द सिनहा

इस सम्बन्ध में निमन्त्रित होकर श्रीवास्तवजी को बिहार गवर्नमेन्ट फिनैन्स मेम्बर, माडर्न रिव्यू' के सम्पादक, विख्यात विद्वान तथा अंग्रेज़ी लेखक पटने के श्री सच्चिदानन्द बार-एट-ला के पास जाना पड़ा। सिनहा साहब श्रीवास्तवजी से बड़े तपाक से मिले और हृदय से लगाकर कहा—"भाई तुम मेरे हिन्दी के गुरू हो क्योंकि तुम्हारी ही किताबों की बदौलत मैं जान सका कि हिन्दी हमारी मातृभाषा है। वर्ना हिन्दी हमारे लिये बिलकुल करिया अच्छर थी और मैं उसकी कठिनाइयों से विवश होकर दूरही से प्रणाम करता था। इसलिये मैं कह नहीं सकता कि तुमसे मिलकर मुझे कितनी खुशी हुई। अब तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि इस मिलन की यादगार में कोई ऐसा नाटक लिखो जो रंगमंच पर उस हिन्दी पर जो कहीं न बोली जाती है, नसमझी जाती है और जिसे मैं बनावटी भाषा कहता हूँ व्यंगवर्षा करते हुए हमारी मातृ भाषा का उद्धार करे।"

इसी अनुरोध की रक्षा में श्रीवास्तवजी ने "चाँद" कार्य्यालय के नये साप्ताहिक पत्र 'भविष्य' में "साहित्य का सपूत" नामक नाटक की धारा बहाई जो पहिले एक बड़े नाटक के रूप में था मगर अब छोटा करके एकांकी के रूप में कर दिया गया है।

दूसरे साल अर्थात् नवम्बर सन् १९३२ में पटना कालिज हास्यरस सम्मेलन के सभापति के रूप में आमन्त्रित होकर श्रीवास्तवजी को सिनहा साहब का फिर मेहमान होना पड़ा। इस बार भी इनको उसी

कमरे में ठहराया गया जिसमें भारत के प्रमुख नेता श्री लाजपत राय ठहरे थे और उन्हीं के समान आपका आदर सत्कार किया गया। सिनहा साहब अत्यन्त ही हँसमुख और मिलनसार थे। उनके साथ मेज पर खाना खाने के लिये दो चार मेहमान प्रतिदिन ज़रूर हुआ करते थे। जिस दिन मेहमानों में कमी होती थी, उसदिन वह पड़ोस के कालिज होस्टेल से अपने संग खाना खाने के लिये कुछ कालिज के विद्यार्थियों को बुलवा लिया करते थे। उनकी विद्वता के सम्बन्ध में श्रीवास्तवजी का कथन है कि—"मैं सिनहा साहब की विद्वता और प्रत्येक विषय के ज्ञान पर उस वक्त चकित होकर रह गया जब उनके सेक्रेटरी ने मुझे सिनहा लाइब्रेरी दिखायी जो कई मन्ज़िलों की है और किताबों से भरी है और मैंने जो किताबें उठाई उसमें सिनहा साहब के निशान देखे। हमारे देश के अमर विद्वानों में सिनहा साहब का स्थान सदा ऊँचा रहेगा।"

———

# दसवाँ परिच्छेद

## पटना कालेज हास्य-रस सम्मेलन

यह सम्मेलन २० नवम्बर १९३२ को हुआ। पटने के प्रसिद्ध विद्वान् सच्चिदानन्द सिनहा के साथ श्रीवास्तवजी इस सम्मेलन में उनकी मोटर पर गये थे। श्रीवास्तवजी को देखने के लिये छात्रों तथा दर्शकों की इतनी भीड़ थी कि मोटर का चलना कठिन होगया।

सम्मेलन में एक छात्र ने श्रीवास्तवजी की ख्याति के सम्बन्ध में ऐसी विचित्र उपमा दी कि दर्शकों के साथ श्रीवास्तव जी को भी बुरी तरह हँसना पड़ा। उसने कहा— 'ईश्वर को सभी जानते हैं। मगर उनसे बढ़कर शैतान मशहूर है और शैतान से भी बढ़कर कौन मशहूर है?"

सब चिल्ला उठे—"जी० पी० श्रीवास्तव"

श्रीवास्तवजी की ख्याति के सम्बन्ध में एक मनोरञ्जन घटना और भी उल्लेखनीय है।

अक्टूबर सन् १९३४ के समाचार पत्रों में एक सरकारी समाचार इस प्रकार छपा—

New Home Member of U. P.

October 15, 1934 Lucknow,

"I understand that the Hon'ble Sir Jwala Prasad Srivastava, Education minister will succeed Kunwar

Jagdish Prasad as Home Member, ; when the latter takes over his appointment with the Government of India......"

इसके साथ सर जे० पी० श्रीवास्तव के स्थान पर चित्र छपा था हमारे जी० पी० श्रीवास्तव का ।

फिर तो बधाइयों के पत्र के उत्तर देते देते श्रीवास्तवजी परेशान हो उठे । उन पत्रों में से श्रीगिरजाशंकर मिश्र Ratired Dist Judge का पत्र तथा स्वयं माननीय श्रीवास्तवजी का पत्र हमारे श्रीवास्तवजी के पत्र के उत्तर में आया था अत्यन्त ही मनोरञ्जक होने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

## गिरजाशंकर मिश्र जी का पत्र

लखनऊ २३-२-१९३५

Dear Jee Pee Saheb.,

Jai Shanker ! This is a cutting from a news paper. I have preserved it in order to congratulate you on the announcement made there in. Please accept my heartiest congratulations for the hope which the reproduction of your photograph under the head line "New Home Member of U. P. has raise in the hearts of your friends and admirers. If *the rustic saying* गाए गाए बियाह be true. then let me hope that one day prefisces "The Honourable" and "Sir" shall adorne your name.

# माननीय सर जे० पी० श्रीवास्तव का पत्र

सरकारी सील.

मिनिस्टर आफ एजूकेशन, बटलर रोड,

यू० पी० लखनऊ, २८ मार्च १९३५

Dear G. P. Srivastava,

Thank you so much for your very nice letter of the 18th March and for the Holi greetings which you have been good enough to send me. I consider my self honoured by the mistake to which you have drawn my attention in such a humorous way......

पटना कालिज का यह सम्मेलन अपनी अपूर्व सफलता के लिये तथा इस बात के लिये भी कि ज्ञानियों विशेष कर अंग्रेज़ी भाषा के विद्वानों का इतना बड़ा समारोह जितना इस सम्मेलन में हुआ शायद ही कभी कहीं हुआ हो अपना विशेष महत्व रखता है। इसकी झलक २६ नवम्बर सन् ३२ की अमृत बाज़ार पत्रिका में यथेष्ट रूप में पाई जाती है।

**Art must not be sacrificed**

**Hindi literature. Mr. Srivastava on its bright future.**

Patna, Nov. 21.

"There was a huge gathering and great enthusiasm prevailed all round, The spacions hall was packed to its

utmost capacity. A large number of professors and students of local colleges as also a number of other gentlemen of the town including Mr. Sachida Nand Sinha Bar-at-law, Ex Finance member Bihar & Orissa Government, Dr. Hari chand Shastri M. A. D. Lilt. I. E. S., Professor Jamna Prasad, Professor B. B. Mazumdar, Mr. J. D. Sahay, Mr. Murte Manohar Sinha Ex-*editor*–*the* Express, B Madhava Prasad, Mr. Phulan Prasad Verma and others were to be noticed on the occasion......"

इस सम्मेलन में श्रीवास्तवजी का जो "साहित्य का तमाशा" नामक भाषण हुआ है वह इतना ओजस्वी, प्रभाव तथा विद्वता पूर्ण और साथ ही मनोरञ्जक हुआ है कि सभी ज्ञानी दंग होगये। स्वयं सच्चिदानन्द जी ने श्रीवास्तवजी से कहा था—'वाह! भाई गंगा प्रसाद जी! तुमने तो कमाल कर दिया, ऐसी ग़ज़ब की Literary Speech! ( साहित्यिक-भाषण ) वह भी पूरे ४५ मिनट तक! और मुझे समय का पता न चला? इसका अंग्रेज़ी अनुवाद मुझे भेज देना इसे मैं अपने Modern review में निकालूँगा। तुम्हारी इस स्पीच ने हिन्दी में नई जान डाल दी है।"

दुर्भाग्य से वह भाषण जिस हिन्दी पत्र में भेजा गया था उसने इसका बहुत थोड़ा सा अंश प्रकाशित किया जिसका संग्रह हास्य रस नामक पुस्तक में है। इसका शेष और अधिकांश अंश नष्ट हो गया।

इसकी उपयोगिता और महत्व का कुछ पता इसके सारांश से पता चलता है जो उपरोक्त अंग्रेजी पत्र में इस प्रकार निकला था :—

"......Mr. Srivastava, after being garlanded, delivered

a most impressive instructive and entertaining speech sparkling with touches of humour on the present evils of Hindi literature. The speech which can rightly claim to have created **A NEW ERA** in the Hindi literature was highly appreciated :by one and all for both the matter and manner of it.

Showing the prominence of literature over Religion, Philosophy and Science, the disting uished speaker of that evening pointed out in a very effective manner that its aims was much nobler and higher than was ordinarily thought of by the people. Literature, he said, makes a man a real man. It is the word picture of natural beauty, It seeks after the greatest happiness in human life by removing the obstacles which stand in the way.

"Not only that Literature is corrector of society and its- art must never be sacrificed on tradition and usage.

The speaker further referred to the present evils of the Hindi Literature and denounced the profuse use of Sanskritised Hindi. which owing to its artificiality could neither be effective nor appealing. Recognising such a language as a standard was like murdering Hindi in its embriyo, making its claim to mother tongue—Lingua Franca—quite hopeless.

This claim, he added, can only be realized when Hindi

owns the speaking language as its own property and does not work with difference in the words naturalised by the Hindi tongue, which have not the Sanskrit origin. He laid a great stress on it and said that salvation of Hindi and its literature depended in recognising the speaking language as a real and standard Hindi, which could be intelligible through out the length and breadth of the country, nay, even in Indian colonies of Africa. He further sounded a note of warning saying that unless the people actually did this 'Talkies' would make Hindi quite a dead language in no time by discarding it as one meant for reading alone.

The next evil which he attacked very touchingly was stuffing of instructions in literature. If things went on in this way, the Hindi Literature, said the speaker, could never improve for want of its full play to its art.

Superiority of Literature should depend on its art and never on the Volume of instructions.

To discard emotion and romance in literature for the sake of women who were generally regarded by men as shallow brained, was another evil which was undermining the literary art in Hindi. No Knowledge of real Psychology was possible in its bonafied sense, when art was curbed down in such ways. He remarked that promulgators of such ideas showed their own deficiency in art and nature's study

The next evil which he exposed was idialism under which the Hindi Literature was suffering badly. To create ideals, said the speaker, was the work of pure imagination, while the beauty and grandeur depend more on true observation and thorough study of nature, which require greater caution, skill and insight. A slight negligence is a stumbling block on the way to success. Hence cheaper and simpler methods to fame and popularity art so common in Hindi.....

इस भाषण का सारांश २५ नवम्बर सन् ३२ के Leader में भी Present day tendencies in Hindi—A scathing criticism के शीर्षक में छपा था।

इस शुभ अवसर पर पटना के बिहार हितैषी पुस्तकालय तथा 'महेश्वर पुस्तकालय' ने श्रीवास्तवजी का मानपत्रों से सत्कार किया, जिनमें से कुछ अंश यहां पर उद्धृत किया जाता है।

## बिहार हितैषी पुस्तकालय का मानपत्र

दिनांक २१-११-३२

"..........हमें इस बात का गर्व है कि इस पुस्तकालय के पास ही मुहल्ला चौक शिकारपुर में आपके पूर्वज रहा करते थे। आपके पितामह श्री बुलाकी लाल जी यहां के प्रतिष्ठित वकील थे। परन्तु संयोग वश आपके पिता मुन्शी रघुनन्दन प्रसाद जो अपनी जीविका के हेतु गोंडे ही में रहना उचित समझा और इसी कारण संयुक्त प्रान्त को आपकी मातृ भूमि होने का गौरव प्राप्त है..........

"आप हमारी दीन मातृभाषा के गौरवमणि हैं। आपने अपनी

प्रतिभा के बल से हिन्दी में हास्य और करुण की जो धारा बहाई है उसने हिन्दी साहित्य में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। हिन्दी संसार के कोने कोने में प्रत्येक बाल वृद्ध बनिता के हृदय में आपकी लेखनी के चमत्कार ने गुदगुदी पैदा कर दी है।....... ..हम अगाध विश्वास के साथ कह सकते हैं हिन्दी में आप का कोई सानी नहीं है। आप कोटिशः हिन्दी भाषियों के हृदय के एकछत्र सम्राट हैं।.........

## महेश्वर पुस्तकालय का अभिनन्दन पत्र

दिनांक २१-११-३२

"..........आपने मातृ मन्दिर के निर्माण में जो श्रम किया है वह महान् है। जो कला का सौन्दर्य प्रस्फुटित किया है वह अद्भुत है जो सफलता पाई है वह अपूर्व और सुन्दर है। ........हमें आपके कृतियों का गर्व है। इन्हें पाकर हम सौभाग्यवान हुए हैं। इन्हीं के बल पर आज हम संसार के हास्य साहित्य में स्थान पाने का अधिकार प्राप्त कर सकें हैं....... ...."

# ग्यारहवां परिच्छेद

## दर्शनाभिलाषियों का धावा

श्रीवास्तवजी के साथ गोंडा का भी नाम अब कुछ ऐसा मशहूर होगया है कि जो कोई भी साहित्य से कुछ परिचय रखने वाला गोंडा होकर कहीं को जाता था वह श्रीवास्तवजी के दर्शनों के लिये जरूर उतर पड़ता था। इस प्रकार महीने में श्रीवास्तवजी के घर दो चार मेहमान अवश्य आ जाते थे। मगर इन दर्शनाभिलाषियों में कुछ ऐसे भी महापुरुष आये जिन्होंने श्रीवास्तवजी को दर्शनाभिलाषियों से यथाशक्ति दूर रहना सिखा कर ही छोड़ा। इनका वर्णन श्रीवास्तवजी के शब्दों में निम्नलिखित है—

## चालीस हजार का स्वप्न

यों तो मैं अपनी किताबों में दूसरे की ही भूलों पर हँसी उड़ाता हूँ, मगर इसका बदला भी दुनिया मुझसे किस तरह लेती है, मैं ही जानता हूँ। आखिर मेरी भूल की ही बदौलत तो! इसका हाल मैं कहाँ तक बताऊँ।

एक दिन रातको खा-पीकर जैसे ही बिस्तरेपर जा रहा था कि एक जेण्टिलमैन तांगेपर टपक पड़े और पहुँचते ही पूछा 'आप आप ही हैं न?' मैंने अपना नाम बताकर कहा—'हां, मैं ही इस नाम से बद-नाम हूँ।' फिर तो झट हाथ मिलाते हुए चहक उठे—हलो! गुडलक! गुडलक! आपका दर्शन हो गया। इसी दर्शन का वास्ते तो हम बुम्बई से आता है। डरता था कि कहीं आप बाहर न गया हो। तभी तो स्टेशन पर ही असबाब डाल कर सीधा आपका पास दौड़ा। आप मिल

गया। ओहो, गुडलक ! अब हमको खुशी हुआ, क्योंकि बिजनेस में मिनट-मिनट पर लाखों का वारान्यारा होता है। हमरा कुम्पनी अपना पहला फिल्म बनाने का वास्ते आपका ही एक ठो नाटक चुना है और पन्द्रह हजार का चेक भेजा है। आप रसीद लिखे और हां, बाद को रोयाल्टी भी देगा। कुम्पनी चाहता है इसका डाइरेक्शन भी आप ही करे। उसका वास्ते पचीस हजार अलग देगा। हम मनेजर हैं। यह देखो हमरा कार्ड।'

इतने में तांगे वाले ने तकाजा किया।

वह फिर बोले—'आपका पास सौ रुपये का चेंज तो होगा। तांगे वाले को छुट्टी देके फेर इतमीनान से बात करे। छोटा नोट तो सब खतम हो गया।'

अब जेब में हाथ डालते ही वह चौंककर उठ खड़े हुए और कहा—'अभी आता है। क्या बतायें, बड़े नोटों का पर्स जिसमें आपका चेक भी था, हमरा सूटकेस में ही रह गया। अभी स्टेशन जाकर लाता है।'

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि साक्षात् भगवान् ही आ गये। अब भला उन्हें कहाँ छोड़ सकता था। तांगे वाले को बिदा किया। पतलून उतारने के लिए सबसे बढ़ियां नयी धोती दी। जब वह स्नान के लिए गये तब घर भर मिलकर बैठक में पलंग लाये। उसपर नया गद्दा, मखमली कालीन, चद्दर वगैरह बिछायी, क्योंकि नौकर सब चले गए थे। फिर हम खुद ही मलाई, रबड़ी लाने के लिए बाजार दौड़े और घर की औरतें चौका-बरतन करके उनके लिए खाना बनाने लगीं।

खा-पीकर उन्होंने कहा—'अभी तो बारह नहीं बजा है। चले यहां का सिनेमा हाल देखे और मनेजर से कुछ बिजनेस भी करे।'

वहाँ उन्होंने एक सिगरेट की डिब्बी ली। तब उन्हें पर्स की याद आयी। तब तक मैंने अपना पर्स खोला। उसमें दो दस दस रुपये के

नोट थे। एक दूकानदार को दे दिया। मगर उन्होंने मेरे हाथ से दूसरा नोट और दूकानदार से चेंज यह कहकर जबरदस्ती ले लिया—'बिज़नेस इज़ बिज़नेस भाई, यह नहीं हो सकता कि आप हमारा वास्ते कुछ खर्चा करे। आपके पास रुपया रहेगा आप जरूर खर्चा करेगा। हम फाज़िल को स्टेशन से लाकर आपका चेक और सौ रुपे का नोट भी देगा। तब आप बाकी रुपे देना और तांगा का किराया भी काट लेना। समझा भाई। बिज़नेस इज़ बिज़नेस।'

मगर जब मैं सुबह को सोकर उठा और बैठक में गया तो देखा कि मेहमान मय धोती, लोटा और पूरे बिस्तर के साथ एक दम गायब। मैं चालीस हजार का स्वप्न ही देखता रह गया और यहाँ घर से भी दो सौ रुपये गये।

## डेढ़ सौ रुपये का जुरमाना

ऐसे ही एक दर्शनाभिलाषी और मिले। साथ में एक ट्रङ्क और बिस्तरा भी था। इससे कुछ इतमीनान जरूर था। फिर भी दूध का जला मट्ठा फूंक फूंककर पीता है। इसलिए जब उन्होंने देखा कि मेरी तारीफों का असर इसपर कुछ नहीं होता तब खुले और कहा कि मैं गानविद्या का प्रोफेसर और आपको गाना सुनाने आया हूँ। फिर तो आप मेरी आप ही मदद करेंगे। इसके बाद लगे गुनगुनाने। मैंने हाथ जोड़कर कहा—"प्रोफेसर साहब, मैं गानविद्या में बिलकुल निपोड़शंख हूँ। पक्का गाना आज तक समझ ही नहीं सका। खैर जहाँ तक हो सकेगा, मैं आपकी मदद कर दूँगा।'

आठ-दस जगह उनका गाना करा दिया। सौ-सवा सौ रुपये उन्हें मिल गये। मगर वह ऐसे डटे कि टलने का नाम ही नहीं लेते थे। महीनों हो गये। तब दो-एक जगह ट्यूशन का भी सिलसिला लगाया, ताकि अलग अपना इन्तजाम करें। मगर ट्यूशन करना उन्होंने अपनी

शान के खिलाफ समझा और यहाँ घर की औरतें मेहमानदारी करते-करते मर मिटीं। उसपर जब कभी वह आधी रात को अलाप भरते थे तो घर में 'जैक' औरबाहर मुहल्ले भर के कुत्ते एकबारगी भूंकना शुरू कर देते थे। सोना हराम हो जाता था। उसपर नौकरों का हाल सभी जानते हैं कि जिस दिन चाहें और जब तक चाहें, एतबार मनाया करें, कोई चूं नहीं कर सकता। आखिर आजिज आकर एक दिन श्रीमतीजी ने कहा—जहाँ इतनी परेशानियाँ उठायीं तहाँ सौ-पचास रुपये और खर्च कर डालो और घर भर चलें लखनऊ घूमने। तब तो घर में ताला बन्द करना ही पड़ेगा। आखिर वही किया और उनकी बदौलत डेढ़ सौ रुपये सैर-सपाटे में खर्च किया तब उनसे पिएड छूटा।

---

# बारहवाँ परिच्छेद

## ऐतिहासिक द्विवेदी मेला

हिन्दी के इतिहास में सबसे बड़ा साहित्यिक समारोह, जिसमें भारत के सभी प्रमुख साहित्यिक सम्मिलित हुए थे 'द्विवेदी मेला' के नाम से प्रयाग में मई के प्रथम सप्ताह १६३३ में कई दिनों तक हुआ था। इसके परिहास सम्मेलन के सभापति हमारे श्रीवास्तवजी चुने गये। इस चुनाव पर कुछ लोग ईर्ष्यावश जले हुए थे।

परिहास सम्मेलन द्विवेदी मेला के अन्तिम दिन ५ मई को होना निश्चित हुआ। उस दिन २ बजे दिन से कोई दूसरा सम्मेलन आरम्भ हो गया। इसकी समाप्ति पर उसी प्लेटफार्म पर परिहास सम्मेलन होने वाला था। इन दोनों सम्मेलनों के बीच में आशा थी कि दर्शकों के मन बहलाने और थकावट दूर करने के लिये कुछ समय अवश्य मिलेगा। मगर पहिला सम्मेलन समय पर न खतम हो सका। श्रीवास्तवजी बहुत घबराये कि पहले सम्मेलन के समाप्त होते ही उसी सिलसिले में परिहास सम्मेलन जारी कर देने से दर्शकगण जो उस गर्मी के महीने में बैठे बैठे काफी थक गये हैं और ऊब उठे हैं अवश्य भाग खड़े होंगे। इस प्रकार परिहास सम्मेलन एकदम चौपट होगा और मेरी भी मिट्टी पलीत होगी। इसके अतिरिक्त आपकी लेखनी के पुजारी अंग्रेजी पढ़ी जनता तथा विद्यार्थी गण थे जो गर्मियों की छुट्टी में बाहर चले गये थे। इसलिये दर्शकों में अधिकांश भीड़ उन्हीं लोगों की थी जो क्लिष्ट भाषा के उपासक थे और हास्य को अत्यन्त ही ओछी दृष्टि से देखते थे। (हास्य के प्रति इस अनादर की झलक 'साहित्य के सपूत' में मिलती है) ऐसी विरोधी जनता का समारोह देखकर श्रीवास्तवजी और भी घबरा गये। सौभाग्य से आपके साथ गोंडा के दो वकील

श्री शान्ति प्रसाद शुक्ल और बाबू हरिहर सरन थे। इन लोगों ने श्रीवास्तवजी को बहुत कुछ दाढ़स देकर दर्शकों में अलग अलग बैठ गये और जैसे ही श्रीवास्तवजी ने अपना 'हास्य-रस' नामक भाषण ( जो 'हास्य-रस' नामक पुस्तक में है ) आरम्भ किया उसके एक वाक्य पर इन लोगों ने 'हियर ! हियर !' करके ताली पीटी। अन्य दर्शकों को भी साथ में ताली पीटनी पड़ी। पूरा सम्मेलन चौंक उठा। दूसरी ताली भी 'हियर ! हियर' के साथ तुरन्त ही पीटी गई। फिर तो समस्त दर्शक मुट्ठी में आ गए। आपका भाषण इतना कलापूर्ण, रोचक और हास्य-मय था कि विरोधी जनता भी आरम्भ से अन्त तक मन्त्र मुग्ध होकर सुनती और वाह वाह करती रही। यह भाषण भी अपना ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में रखता है कि इसने उस दृष्टिकोण को बदल दिया जिससे अब तक हिन्दी में हास्य देखा जाता था। इसमें हास्य की जैसी गहरी छानबीन करके इसकी कलाओं का अनुसन्धान किया गया है वैसी हमारे साहित्य में कभी नहीं हुई थी। इसने केवल श्रीवास्तवजी की विद्वत्ता का डङ्का ही नहीं पीटा प्रत्युत हास्य को साहित्य में उच्च स्थान दिलवाया, द्विवेदी मेला का गौरव बढ़ाया साथ ही साथ हास्य कलाओं के प्रदान से हमारे साहित्य को धनवान भी बनाया। यह सम्मेलन कितना सफल और यह भाषण कितना अपूर्व हुआ है वह १० मई १९३३ के 'पायनीयर' के निम्नलिखित उल्लेख में देखिये :—

## DWIVEDI-MELA ENDS

**Unique Address on Humour**

"......The most interesting function, however, was the Parody Section hold under the Presidentship of G. P. Srivastava the well Known Hindi Humourist, who dilivered an address, which was like a thesis on Humour

sprinkled with humurous anecdotes. It was appreciated for both its uniqueness and exhaustiveness.

## कलकत्ता-परिहास-सम्मेलन

अब हास्यरस का कुछ ऐसा मान बढ़ा कि कलकत्ते में भी ८ अक्तूबर १९३३ को परिहास सम्मेलन हुआ और उसके सभापतित्व के लिये भी श्रीवास्तव जी आमन्त्रित किये गये। परन्तु वहां की जनता अधिकांश व्यापारी वर्ग की थी जिन्हें उन दिनों साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध न था। इस कारण वहां का सम्मेलन पूर्णरूप से सफल न हो सका।

यहां 'हिन्दी—नाट्य परिषद' तथा 'नवयुवक साहित्य मण्डल' ने अपना अपना मानपत्र प्रदान करके श्रीवास्तव जी का सत्कार किया जिनके कुछ अंश यहां उद्धृत किये जाते हैं।

हिन्दी—नाट्य परिषद कलकत्ता का मान पत्र दिनांक ११-१०-१९३३-"......श्रद्धेय आचार्य.........आपने अपने निर्वाचित हास्यरस के क्षेत्र में वह सफलता प्राप्त की है जिसका दावा कदाचित ही कोई साहित्य महारथी कर सकता है।

"हे साहित्य मन्दिर के श्रेष्ठ उपासक! हमारा आपका कुछ घनिष्ट सम्बन्ध है। आपके नाटकों का अभिनय कलकत्ते के साहित्य के कला प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित कर हिन्दी नाट्य परिषद ने आपका तथा साथ ही साथ अपना भी नाम अमर कर लिया है........"

नवयुवक साहित्य मण्डल परिहास सम्मेलन कलकत्ता का मान पत्र दिनांक—११-१०-१९३३

"... कतिपय लेखक एवं कवियों ने इस ( हास्यरस की ) अभाव की पूर्ति करने की भी चेष्टा की.......परन्तु जिस अभाव की पूर्ति सदियों

स न होसकी थी उसे आपने कुछ वर्षों में ही कर दिखाया........हिन्दी एव हिन्दी प्रेमियों को आपका गर्व है......"

इस अवसर पर कलकत्ते में श्रीवास्तव जी को कुछ ऐसी विचित्र परिस्थितियों में पड़ना पड़ा है जो स्वयं ही अपूर्व हास्यरस की कहानियाँ बनगई हैं और जिनका वर्णन श्रीवास्तव जी ने अपनी भूलों के साथ इस प्रकार किया है—

## गुरुदेव की परीक्षा

"इसी तरह मेरा कलकत्ते में हाल हुआ जब मैं परिहास सम्मेलन का सभापति होने के लिये बुलाया गया था। सभापति के नाते एक तो योंही मुझमें बड़प्पन की दुम लग गई थी। उसपर उन दिनों मेरे उपन्यास "लतखोरी लाल" मेरे नाम से, और 'दिल जले की आह' मेरे उपनाम 'पागल' के नाम से 'चाँद' में साथ साथ निकल कर अब दोनों ही पुस्तक रूप में मेरे नाम से छप रहे थे। 'पागल' के नाम ने पहले ही से बहुत उत्सुकता उत्पन्न कर रखी थी। अब जो इसका भण्डा फूटा तो सभी मुझे देखने को फट पड़े। कोई कहता था 'लतखोरी लाल' आया है। कोई कहता था-"अरे! पागल पधारे हैं।" कोई कहता था-"ओ बाबा! यह की रक़म का पागल है जो किताब भी लिखने शकता है।" "लम्बीदाढ़ी" के नाम से मैं पहले ही से मशहूर था इनके अतिरिक्त एक नया नाम 'साहित्य का सपूत' भी मेरा धरा जा रहा था क्योंकि वह 'भविष्य' में निकल रहा था। जिसके इतने विचित्र नाम हों वह देखने वालों के लिये कितना विचित्र होगा वही बता सकता है जिसके सर यह आफ़त पड़ी हो। इसलिये वहां पहुँचते ही मैं अजायबखाने में रखने योग्य एक विलक्षण जानवर बन गया। फिर तो जो गति डोली पर से उतरते ही नई बहू की ससुराल में होती है, वह मेरी होगई। 'गुरुदेव,' 'गुरुवर' 'पूज्यनीय' 'माननीय' इत्यादि बनावटी शब्दों को सुनते सुनते

परेशान होगया। मुझे भी बात चीत में बनावट, चाल ढाल में बनावट हर सांस में बनावट लानी पड़ी। इस बनावटी जीवन से एक ही दिन में ऊब उठा। उसपर जब यह कनफुसकियां कानों में पड़ती थी कि—"अरे! यह तो बिल्कुल आदमी है" मैं और जल मरता था। हर तरफ शिष्टाचार ही शिष्टाचार! आत्मीयता का कहीं नामो निशान न था जिसके लिये दिल बुरी तरह तरस रहा था। किसी को मेरी सम्मति की ज़रूरत थी। किसी को अपनी रचना सुधरवाने की फ़िक्र थी और किसी को लेखन कला सीखने की। साहित्य महारथी बनने का शौक सबको। मगर तारीफ़ यह कि दिलचस्पी जो साहित्य की जान है उससे बुरी तरह परहेज़।

इस परहेज़ गारी का तमाशा उस दिन देखकर मैं और दंग हो गया जब कलकत्ते से ऊब कर तीसरे ही दिन भागने की ठान ली और अपने एक प्रकाशक की दूकान पर मिलने गया। शाम का वक्त था मैं कुछ साहित्य प्रेमियों से घिरा हुआ बातें कर रहा था कि इतने में एक मोटर आकर रुकी और उसमें से दो फैशनेबिल युवतियां उतर कर दूकान में आईं। सारी दूकान लैवेन्डर की खुशबू से महक उठी!

मगर हमारे साहित्य प्रेमियों का हाल न पूछिये। ऐसा मालूम होता कि इन युवतियों के आजाने से मानो हवा में पाप का ज़हर फैल गया है जिसमें सांस लेना मुशकिल है। किसी ने सर नीचा कर लिया, किसी ने मुहं फेर लिया और किसी ने खाली नाक सिकोड़ ही कर अपनी परहेज़गारी पर आंच नहीं आने दी। मैं समझ गया कि इन परहेज़ गारों से साहित्य का कुछ भी भला नहीं हो सकता। बेकार इनके साथ माथा पच्ची करना है। इनके सूखे हुए हृदयों में न आदर है, न भक्ति है न रस है, न वास्तविकता है। खाली ढोंग ही ढोंग है।

युवतियों ने दूकानदार से पूछा—"लतखोरी-लाल" और "दिल जले की आह" मारकेट में आगई?"

दूकानदार ने कहा—'अभी नहीं।'

फिर प्रश्न हुआ—"आखिर कबतक छपेंगी ?"

इसका सूखा सा जवाब मिला—"पता नहीं।"

इस सूखे वातावरण में अटकने का कुछ भी सहारा न पाकर दोनों भाग खड़ी हुईं।

अब जो साहित्य कला पर बात छिड़ी तो मैंने जलकर कहा कि—"पहिले चरित्रों का निरखना परखना, उनके हृदय की थाह लेने के लिये उनसे घुलमिल कर बातें करना सीखिये तब इस झंझट में पड़िये। दुनिया से आँखें चुरा कर दुनिया का हाल तो नहींजाना जाता, तब बिना ज्ञान और अनुभव के किस तरह आप हमारे साहित्य का सर ऊंचा कर सकते हैं ?"

अभी हमलोग इसी विषय पर बातें करते हुए वहां से निकले ही थे कि एक साहब बोले—"आप सत्य कहते हैं गुरुदेव, किन्तु किसी अपरिचित व्यक्ति से विशेष कर प्रतिष्ठित रमणी से बातें करना भी तो धृष्ठता है।"

मैंने कहा—"धृष्ठता नहीं। बल्कि यों कहिये कि यह एक कठिन कल्प है जिसके बिना साहित्यकारों का काम नहीं चल सकता, क्योंकि यही उनकी खेती बारी और लेखनी का आधार है।"

इतने ही में एक मोटर से उतर कर एक बला की सुन्दरी एक ज़ेवरों की दूकान में गई। तब तक एक साहब कह ही बैठे—"अच्छा गुरुवर इनसे बातें करके उस कला का परिचय देने की कृपा करें।"

'ग़जब होगया! गुरुदेव के होश उड़ गये। बड़ी कठिन परीक्षा का सामना करना पड़गया। आबरू बचाने का कोई उपाय न देखकर आख़िर झख मारकर मुझे कहना पड़ा—"अच्छा आइये—"

"इधर उधर ज़ेवरों पर सरसरी नज़र डालते हुए उस सुन्दरी के

निकट पहुँच कर मैंने दूकानदार से कहा—"ऐसा चन्द्रहार जैसा देवी जी के गले में चमक रहा है ज़रा दिखलाइये।" इसके बाद देवी जी को प्रणाम करके कहा,—"क्षमा कीजियेगा, आपका चन्द्रहार सचमुच इतना सुन्दर है कि क्या कहूँ? कहां का बना है?"

"मैं लास्ट समर बाम्बे से लाई थी। वहीं का बना होगा।"—यह कह कर उसे झट अपने गले से उतारा और मुझे देखने को दिया। वैसे ही मैं उसे हाथ में लेकर बड़बड़ाने लगा—"अरे! यह क्या? गलेसे हटते ही यह कैसा फीका पड़ गया। मानों चन्द्रमा की ख़ासीयत इसमें है कि जबतक सूर्य की किरणें पड़ें तभी तक बहार दिखाये।"

सुन्दरी का चेहरा खिल गया। तब तक दूकानदार ने कहा—'इस माफ़िक का तो चंद्रहार तैयार नहीं है। दूसरा डिजाइन का यह देखिये।"

मैंने कहा—"मैं देखूं क्या अपना सर। यहां तो वही मसल है कि घोड़ा परखें भवन चमार।" किसी सुन्दरी के गले में होता तो अलबत्ता कह सकता था कि यह सुन्दर है या नहीं जैसे इस चन्द्रहार के लिये तबियत ललच उठी और सोचा कि जब कलकत्ते आया हूँ तो अपनी माननीया जी के लिये यह अपूर्व भेंट लेता जाऊं ताकि वह भी निहाल होजायें।"

सुन्दरी ने पूछा—क्या आप बाहर से आये हैं? "अच्छा तो मैं—" तबतक मेरे एक साथी ने मेरा परिचय बता ही दिया जिसे दूकानदार ने भी सुन लिया। वैसे ही सुन्दरी बोल उठी—"अरे! आप ही "लम्बी दाढ़ी" हैं। तभी। मगर आपके तो दाढ़ी है नहीं?" मैंने कहा—"क्या बताऊं इस चन्द्रहार के देखते ही मुड़ गई।"

उसने मुस्कुरा कर कहा—"अच्छा तो इधर आइये। मैं आप के लिये भेंट पसन्द किये देती हूँ।" फिर चुपके से पूछा—"आपकी माननीयाजी हैं कैसी? गोरी, सांवली, लम्बी, नाटी ताकि वैसीही चीज भी चुनूं।"

मैंने हाथ जोड़ कर कहा—"यह न पूछिये। क्योंकि सच तो यह है कि मुझे आप ही को देखकर उनकी याद पड़ी और इस झंझट मे फंसा।"

उनके मुँह से यकायक निकल पड़ा—"सुक !"

और फिर वह बुरी तरह शर्मा गई। मेरा मुरझाया हुआ हृदय एक दम लहलहा उठा। जो आत्मियता, वास्तविक आनन्द, सच्ची आवभगत इस नन्हे से शब्द में हृदय मिली उसका लेशमात्र भी करोड़ों आदर सूचक शिष्टाचार के शब्दों में न मिल सका।

मगर इस भूल का पता मुझे १५ दिन बाद मिला जब दुकानदार ने वैसा ही चन्द्रहार साढ़े चार सौ रुपये का वी० पी० से भेजा और मुझे कलकत्ते वाली आबरू रखने के लिये उसे झखमार कर छुड़ाना पड़ा।

## कैद सख्त की साँसत

नाम मशहूर हो जाने की इल्लत में खाली जुरमाने की ही सजा नहीं हुई बल्कि कैद सख्त की भी साँसत भुगतनी पड़ी है। कहाँ? कलकत्ते में। यहाँ इने-गिने दर्शनाभिलाषियों के चक्कर में मेरे होश गुम हो ही चुके थे इसलिए वहाँ झुण्ड के झुण्ड दर्शनाभिलाषियों को पाते ही मेरे प्राण सूख गये। खैरियत इतनी हुई कि वहाँ एक मारवाड़ी सज्जन से कुछ घनिष्ठता हो गयी जो हमारी भड़क को बहुत कुछ कम किये रहते थे। मगर एक दिन वह खुद ही दर्शनाभिलाषी बन गये और मारे श्रद्धा के मुझे अपने यहां शामको जबरदस्ती दावत खिलाने ले गये। जिस मकान के एक कमरे में वह रहते थे वह मकान क्या खासा भिड़का छत्ता था। कमरे ही कमरे। एक मंजिलसे दस मंजिलतक। और सब एक ही किस्मके। बीच-बीचमें आने-जानेके लिए पतली-पतली गैलरिया थीं। हर कमरे में पूरा एक खान्दान और मकान भरमें पूरा एक

मुहल्ला। सोने के लिए आधे कमरे में फर्शी, गद्दा और बीच-बीच में तकियों की ढड़वार। गुसलखाना या बम्बा गैलरी के इस सिरेपर या उस सिरेपर। पांचवे या छठे मंजिल के एक ऐसे ही कमरे में मैं ले जाकर बैठाला गया।

तरकारियों का लाल रंग देखकर तबीयत फड़क उठी। मगर जब उन्हें मुहमें डाला तो छठीका दूध याद आ गया। आंखसे पानी नाक से पानी, पोंछते-पोंछते रूमाल एक दम भींग गया। खाना गया भाड़में, मुँह से सीटी बजने लगी। ऐसा जान पड़ा कि हजारों मिर्चें एक बारगी खा गया हूँ।

मित्रने सैकड़ों बिनतियों पर भी मुझे अपने निवास स्थानपर लौटने न दिया। अकेला आ नहीं सकता था। आखिर झक मार कर तकियों की डंड़वारों के बीचमें मुझे भी गद्दे पर सोना पड़ा। उसीपर मित्रके बाल-बच्चे भी थे।

आधी रात को आंख खुली। मिर्चों की गर्मीने परेशान किया। मारे प्यास के तालू सूख गया और उधर पेटके पानीने भी आफत मचाना शुरू किया। कमरा अन्धकारघुप। पता नहीं बिजलीका बटन किधर था। जब सब्र न हो सका तब रेंगता और सबको बचाता हुआ घण्टों में किसी तरह द्वार तक पहुँचा और उसे धीरेसे खोला। गैलरी में रोशनी दिखाई पड़ी। बाहर निकलकर दरवाजा चुपके से भेड़ा और गैलरी के सिरेपर दौड़ा, एक मुसीबत से छुटकारा मिला। मगर जब पानी पीने के लिए बम्बा खोला तो वह सूं-सूं करके रह गया। सोचा बम्बा बहुत ऊँचे पर होने के कारण शायद पानी नहीं निकलता। बस तावनें नीचे उतर गया। मगर वहां भी यही हाल। अब बम्बे वाले शहरों का ख्याल आया कि अरे! वहां तो रात में पानी बन्द हो जाता है।

अब लौटने की फिक्र हुई तो मैं अपने कमरे को ऐसा भूला कि

लाख सिर मारने पर भी उसे न पा सका। अब यह डर लगा कि कहीं कोई इस तरह गैलरियों में भटकते हुए देख न ले और चोर-चोर की हांक लगा बैठे, इसलिए एक गुसलखाना में ही अपने को कैद रखने में कुशलता देखी। उफ! इस सांसत में कितने युगों के बाद सुबह हुई मैं ही जानता हूँ।

———

# तेरहवां परिच्छेद

## खून के आँसू

चाँद कार्यालय से 'चाँद और "भविष्य" के अतिरिक्त अब उर्दू-'चाँद" भी निकलने लगा। इसमें भी लेख देने के लिये श्रीवास्तवजी पर जोर डाला जाने लगा। मगर वह तो हिन्दी के पुजारी होने के नाते हिन्दी के निर्माण में लगे हुए थे। फिर भी मित्र की बात रखने के लिये उसके विशेषांक में बस एक लेख 'तालीम एडिटरी' जो 'कम्बख्ती की मार' में 'एडिटर मियां की सूझ' के नाम से है लिख कर रह गये।

अब 'चाँद' में श्रीवास्तवजी ने "स्वामी चौखटानन्द' की नई धारा जिसका थोड़ा सा अंश कहानियों और निबन्ध के रूप में 'इन्दु' में निकल चुका था, आरम्भ की।

'लतखोरीलाल', दिल जले की आह', 'साहित्य का सपूत' और 'स्वामी चौखटानन्द' के पुरस्कार के लगभग सभी रुपये चाँद' कार्यालय में बाकी थे। श्रीवास्तवजी सोचे हुए थे कि जब मेरी एक मात्र सन्तान कुमारी शकुन्तला की शादी तय होगी तब इकट्ठा ही ले लूँगा। उस वक्त सहगलजी भी उनको देने में पिछड़ नहीं सकते। किन्तु दुर्भाग्यवश ब्रिटिश सरकार से बराबर संघर्ष करते रहने के कारण श्री आर० सहगल का कारबार यकायक ऐसा शिथिल पड़ गया कि "चाँद" कार्यालय को कुछ दिनों बाद दीवालिया होना पड़ा जिसमें श्रीवास्तवजी के सब रुपये मारे गये। 'कायस्थ-अङ्क' भी न निकल सका जिसके लिये श्रीवास्तवजी ने बड़ी मेहनत की थी और काफी रुपये भी भ्रमण में खर्च किये थे।

१९३७ में श्रीवास्तवजी ने अपनी पुत्री शकुन्तला का विवाह

किया। इसी साल ब्रिटिश सरकार ने आपकी लेखनी का आदर 'कारोनेशन् मेडेल' प्रदान कर किया और इसी साल आप गोंडे के 'नोटरी पबलिक' भी बनाये गये।

सहगल जी ने 'कर्मयोगी' निकाल कर अपनी दशा सुधारने की कोशिश की किन्तु उद्योग निष्फल हुआ। सहगल जी के पास प्रकाशनार्थ श्रीवास्तव जी की दो रचनायें पहले से पड़ी थीं जिनमें से एक 'लोक-परलोक' बहुत दिनों बाद किसी तरह प्रकाशित हुई, मगर दूसरी रचना खोगई।

ज़माना उर्दू का होते हुए भी श्रीवास्तवजी पहले पहल १६३६ में लखनऊ रेडियो पर बोलने के लिये बुलाये गये। इसके पहले आप का 'पैदायशी-मैजिस्ट्रेट' बम्बई रेडियो से प्रसारित हो चुका था। इसी साल आपके 'लाल बुझक्कड़' नामक नाटक की बम्बई में फिल्म बनी। लिखा-पढ़ी करने पर इसके लिये फिल्म वालों से ४५०) बड़ी मुशकिलों से वसूल हो सका।

फरवरी सन् १६४१ में श्रीवास्तवजी ने अपनी बहिन सहोद्रा की एक मात्र सन्तान कुमारी लजावती का विवाह कर दिया, जो बचपन ही में अनाथ हो गई थी और इस कारण श्रीवास्तवजी उसे अपनी सन्तान तुल्य पाल रहे थे।

इस बीच में कई बार गोंडा में नाटक खेले गये जिनके साथ श्रीवास्तवजी को भी कोई न कोई अपना प्रहसन खेलना पड़ता था। इन प्रहसनों में वह अपने भाई श्री बी० पी० सिनहा के एक मात्र पुत्र श्री विजय कृष्ण सिनहा के अभिनय योग्य, जो अब बोलने लगे थे एक बच्चे का पार्ट अवश्य लिख देते थे, जिससे उसकी झड़क मिट जाये और भविष्य में वह बुद्धू बनकर न रहने पाये। इस प्रकार 'हजामत' में मुनवा 'हाकिम' में 'कुंवर' और 'मिट्टी के शेर' में 'सूअर सी नाक' कहने वाले बालक का पार्ट लिखा गया।

लगभग दस वर्षों से पुस्तकों से कोई आमदनी नहीं हुई थी, क्योंकि 'चाँद' कार्यालय जहाँ से रुपये मिलने की उम्मीद थी दीवालिया हो चुका था और अन्य जिस किसी प्रकाशक से पाला पड़ा, उनसे श्रीवास्तवजी को बड़ा धोखा उठाना पड़ा था। इधर दो दो शादियाँ करने में घोर आर्थिक संकट में भी पड़ गये थे, जिसको वकालत की आमदनी दूर नहीं कर पाती थी। उधर कुछ सम्बन्धियों ने भी आपको बुरी तरह सताना शुरू कर दिया। इन सभी का श्रीवास्तवजी के स्वास्थ्य पर ऐसा भयङ्कर प्रभाव पड़ा कि वह Nervous Break- Down के शिकार होकर दिमागी और मेहनती काम करने के बिल्कुल अयोग्य हो गये। इस कारण श्रीवास्तवजी को लगभग सन् १९४० में साहित्य सेवा छोड़ देनी पड़ी।

अभी वह बीमार ही थे कि कठोर दुर्भाग्य ने बड़ी निर्दयता से इनको और इनकी पत्नी को मुसीबतों की चक्की में पीस डाला। ४ जुलाई १९४१ को इनकी एक मात्र सन्तान श्रीमती शकुन्तला देवी का यकायक स्वर्गवास हो गया। इनका हराभरा और चहचहाता हुआ घर एकदम श्मशान तुल्य बन गया। इनका हृदय कुसुम मानो बुरी तरह कुचल डाला गया। इस वज्राघात से इनकी पत्नी के बचने की कोई आशा न रही।

श्रीवास्तवजी की दूसरी बहिन योगिनी का पुत्र 'फूल'— श्री प्रफुल्ल कुमार सिनहा अभी जरा जरा खड़ा होने लगा था। उसके मस्तिष्क में परमेश्वर ने कुछ ऐसा परिवर्तन कर दिया मानो 'शकुन' की आत्मा उसमें प्रवेश कर गई कि वह सहसा "अम्मां अम्मां" कहता हुआ उनकी पत्नी की गोद में फट पड़ा तथा उसी दिन से उन्हें अपनी सगी माँ समझने लगा और अपनी सगी माँ को ऐसा भूला कि जब कभी रात्रि में सोते समय श्रीवास्तवजी पत्नी के पास से उसकी माता के पास सुला देते थे तो वह चौंककर आसमान सर पर उठा लेता

था। ईश्वर की यह विचित्र लीला देखकर सभी चकित थे। अस्तु, इसीके पालन पोषण और लाड़ प्यार में श्रीवास्तवजी की पत्नी के प्राण किसी प्रकार बचे और वह उस दिन से उसे अपना ही पुत्र समझने लगीं। फूल की देखा देखी योगिनी देवी के सभी बच्चे श्रीवास्तवजी की पत्नी के पास रहने लगे। फिर भी पूर्ण रूप से उनके हृदय का घाव न भरा और भयङ्कर हिस्टीरिया की रोगिणी होगईं। श्रीवास्तवजी की माता अभी जीवित थीं। उनका भी स्वर्गवास इसी साल अर्थात् १३-१०-१९४१ को हुआ।

---

# चौदहवाँ परिच्छेद

## पुनर्जन्म

१९४४ में गोंडे में एक ईमानदार वकील की "रेवन्यु-अफसरी" के लिये जरूरत पड़ी। ईमानदारी में श्रीवास्तवजी का नाम मशहूर था ही। उधर दौरे के काम के लिये जिससे उनकी मुख्य आय थी Nervous-Break Down के कारण उनका स्वास्थ्य अब उपयुक्त नहीं रहता था। सौभाग्य से इनके भाई श्री बी० पी० सिनहा के उद्योग से यह नौकरी श्रीवास्तवजी को मिल गई और वे इस पद पर ३१ मार्च १९४९ तक सुशोभित रहे। इसके बाद उन्हें उमर के कारण इस पद पर से हटना पड़ा।

नौकरी में भी श्रीवास्तवजी ने अपना कमाल दिखा दिया; क्योंकि हटने पर भी उनकी 'रेवन्यु अफसरी' की धूम रही और वर्षों वह इजलास गंगा बाबू के इजलास के नाम से मशहूर रहा। यहीं तक नहीं बल्कि उनके काम, योग्यता, सद्व्यवहार और ईमानदारी की गोंडे के बड़े वकालतखाने ने सुन्दर प्रशंसा करके अपने प्रस्ताव दिनांक ४ जनवरी, १९४९ में श्रीवास्तवजी को अभी अपने काम पर लगे रहने के लिये अनुरोध किया और प्रस्ताव को सरकार के पास भेजा। वैसी सुन्दर आलोचना वकालतखाने द्वारा अब तक किसी भी न्यायपालक की नहीं हुई थी।

### गोंडे के बड़े वकालतखाने का प्रस्ताव

दिनांक ४-१-४९

The members of Gonda Bar Association note with regret the decision of Government to terminate the